प्रगति की राह

(विचार-प्रधान उपन्यास)

गोविन्द वल्लभ पंत

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

प्रकाशक,
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड
बम्बई

मूल्य चार रुपये आठ आने

मुद्रक,
गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दिल्ली

जड़ता मृत्यु का लक्षण है; प्रगति मानव-जीवन का स्वभाव—चैतन्य का एक-मात्र प्रमाण। किन्तु जहाँ प्रगति की प्रेरणा मानव-मस्तिष्क के लिए प्रकृति की स्वाभाविक देन है, वहाँ प्रगति की दिशा उसके लिए एक गम्भीर पहेली है। अनेकों प्रयत्न करने पर भी मनस्वी विचारक अब तक किसी सही राह का निर्देश न कर सके और मानव सच्ची प्रगति की खोज मे इधर-उधर भटकता फिरा। इसी तरह भटकते हुए दो व्यक्तियों की यह कहानी प्रगति की राह के अन्वेषण का एक स्वल्प-सा प्रयास है।

एक

बढ़ चलो ! बढ़....चलो ! बढ़ना ही युग-धर्म है, बढ़ना ही जीवन का मर्म है और बढना ही कर्म की सार्थकता ! बढ चलो, बढ चलो !

जिसे, जहाँ, जब, जैसे अवसर मिले, बढ़ते चलो। यदि बढ़े नहीं तो फिर जागृति कैसी ? यदि बढे नहीं तो फिर स्वतन्त्रता किस काम की ?

बढ चल हे प्रगति के प्रतीक ! वनस्पतियाँ एक स्थान में स्थिर होने पर भी तो आकाश की शाखाओं और पाताल की जडो मे बढ़ रही है; फिर सृष्टि के सर्वोत्तम चैतन्य ! तू क्यों इतना जड हो गया ? चल, बढते चल ! दिन-रात बढ़ते चल। रात को अँधेरा है, तो बिजली का बटन दबा और बढ़ते चल ! दिन मे कुछ अधिक उत्साह है तो दौडकर चल यानो में, उडकर चल विमानो मे !

तू मील के पत्थर की निर्जीवता नही है; तू पथ भी नहीं है— भूपतित और दलित पडा हुआ है और झूठे ही कह दिया जाता है कि तू स्पन्दन है, तू गति है और तू वेग है। चल, बढ चल !

बाधाएँ, नीतिज्ञों के बनाए हुए ढकोसले; अन्धकार, उपदेशकों का उपजाया हुआ भ्रम; और भूत-प्रेत, धर्माध्यक्षो का गढा हुआ भय ! बढ़ चल ! काँटा तेरे पैर से कुचल जायगा और ठोकरें तेरी मार्गदर्शिका बन जायँगी। चल—एक-एक पग बढ़ता हुआ और एक-एक सरणि चढ़ता हुआ !

लछमियाँ भी बढ चला। सरल सन्तोष की प्रतिमूर्ति एक पहाडी किसान का बेटा लछमियाँ भी बढ चला। माता की गोद से डलिया पर आया। डलिया से धरती पर ढुलकने लगा, सरकने लगा, घुटनो के बल चलने लगा, माता-पिता की उँगलियाँ पकडकर चलने लगा, सहारा भी छोड दिया, दौडने लगा।

घर के बाहर आया, आँगन मे दौडने-फिरने लगा और माता की दृष्टि की परिधि काटकर उसके बाहर चला गया।

लछमियाँ बढ़ चला! पहाड पर के पाँच कँटीले हेमन्त पछाड़ कर रख दिये उसने। वह छठे की ओर बढ़ने लगा।

दिन-भर पास-पडौस मे उपद्रव मचाता। कभी किसी के बच्चे के हाथ की गुड़-रोटी छीनकर भागता, कभी किसी के बाल नोच देता, कभी किसी को चाँटा मारकर रुला देता और कभी किसी को दाँत से काट रक्त बहा देता।

बिना किसी उपयोग के पडौसियों के साग-भाजियों की छोटी पौध उखाडकर फेंक देता। न किसी के खीरे की बेल मे कोई खीरा बढ़ पाता और न किसी के मक्के की बाल मे दाने पड पाते। न नारंगी के पेड पर नारंगी पक पाती, न दाडिमी के पेड पर दाडिमी।

ऐसा उपद्रवी लडका कोई देखा ही नहीं गया था उस मंडल-भर मे। माता-पिता विवश हो गए थे। पास-पडौसियों के आक्षेप-उलहनों से उनके कान पक गए थे। बहुत उसे मारा-पीटा, बिच्छू के भी सडाके दिये और 'तानू' गरम कर भी उसे दागा, परन्तु लछमियाँ न माना—वह तो इस्पात हो गया। कहना-सुनना, उपदेश-आग्रह उस गरम तवे पर पानी के छींटे थे। मार-पीट का भय भी जीत लिया उसने। लछमियाँ बढ चला। मार-पीट की स्वाभाविकता और अनुक्रम ने उसके साहस को भी बढ़ा दिया था, उसके हाड-माँस में भी दृढ़ता उपजा दी थी।

एक दिन लछमियाँ का पिता उसे पेड़ से बाँधकर पीट रहा था। रो-रोकर अपनी चिघाड से उसने सारा आकाश अपने सिर पर उठा

रखा था। माता खेतों पर गई थी। लछमियाँ की उद्दण्डता पर सभी पडौसी उसके पिटने मे दयित हो बीच-बचाव के लिए खिचते न थे।

पिता के अबाध क्रोध ने एक चाँटा और खींचकर मारा उसके। लछमियाँ चिल्ला उठा—"अरे बाप रे, मार डाला रे! अरे खिमका रे! तू तो देख रहा है। छुडाने क्यो नहीं आता?"

खिमका कुछ दूर पर एक दीवार के मोड पर घास काट रहा था। चुपचाप खिसक गया ओट मे। छुडाने जायगा खिमका? पड़ी है उसे बडी! वह लडका, वह उसका बाप। भूख के समय खाने को भी देगा और मार के समय क्यों नहीं पीटेगा। खूब पीटेगा, ऐसा चाण्डाल लडका दूसरा और कोई है भी इस घाटी-भर में?

पिता ने फिर मारा—"चुप! कह, अब से न करूँगा।"

फिर चिल्लाया वह—"मैंने क्या किया है? अच्छा खिमका, छिप गया तू! खोल दो, मेरी पसली दुख गई!"

एकादशी के व्रत को परिपूर्णता देने के लिए गाँव के पण्डितजी राख से पॉलिश किया हुआ चमचमाता पीतल का रिक्त लोटा एक हाथ से पीठ पर लटकाये आ पहुँचे। लछमियाँ के धीरज की साँस खिंची।

"हैं, हैं, क्या हो गया तुम्हें? इसका रोना सुनकर ही इधर खिंच आया हूँ मैं।"

"बडा बदमाश हो गया है यह, महाराज क्या करूँ? हाथ जोडता हूँ, पैर पडता हूँ इसके, मानता ही नही।"

पण्डित जी ने किसान की दृष्टि मे ही नहीं चमका दिया उस लोटे को, पत्थर की दीवार मे उसे 'खट' से रखते हुए उसके कान भी बजा दिए और लगे उस बालक के बन्धन खोलने—"बड़ी कसकर गाँठ बाँध दी है तुमने।"

जब उनसे गाँठ न खुली तो किसान हँस पड़ा—"बस, हो गया?"

"व्रती हूँ आज एकादशी का।" कहकर उन्होंने अपने रिक्त लोटे

पर उस किसान की दृष्टि खीचनी चाही—"मार-पीट मे कुछ नहीं होता, लडका और भी बिगड जाता है।"

"फिर क्या करूँ ?"

"गाँव के स्कूल मे भेजो, वह और किसलिए खोला है सरकार ने ?"

"पढ-लिख जायगा यह ?" आशान्वित किसान ने पूछा।

"क्यों नहीं ? पढ़ने-लिखने की जगह है वह। संगति मिलेगी। बेसिक पास कर आए है पण्डितजी। मेरे ही साढ़ू तो हैं, बड़े होशियार है।"

"सुना तो है मैंने भी, परन्तु यह बेसिख के कैसे पण्डितजी हैं; और फिर यह तुम्हारे साढ़ू हो गए क्योंकर ?" भोले किसान ने पूछा।

"तुम्हारा संशय क्यों बढ़ गया ?"

"बेसिख और पण्डितजी के जोड़ से। जिसके सिखा होती है, वही तो पण्डित होता है।"

पण्डितजी हँसकर बोले—"यह शब्द बेसिख थोड़े है, बेसिक है। बेसिक का अर्थ है मूलक।"

"वह भी तो जड ही है। जड़ कहो या चोटी ? आकाश मे हुई तो चोटी, भूमि के भीतर हुई तो जड !"

पंडितजी ने भी अपनी संस्कृत की धाक जमाई—"कहते तो ठीक हो। गीता मे भी लिखा है—'ऊर्ध्वमूलमधःशाख !' बेसिक एक शिक्षा की नई पद्धति है, जिसमें कम-से-कम परिश्रम से विद्यार्थी को अधिक-से-अधिक उपयोगी बना दिया जाता है।"

"कम-से-कम परिश्रम किसका, पढ़ने वाले का या पढ़ाने वाले का ?"

पंडितजी हँसकर बोले—"दोनो का।"

पेड पर बँधा लछमियाँ, दंड के एक रूप में बाधा पड जाने से दूसरे को चुपचाप सहन करता हुआ उन दोनो की बातें सुनने लगा। स्कूल तक कभी-कभी हो आता है वह। पंडितजी ने लडकों के साथ स्कूल की दीवार में कई रंगो से बेल-बूटे बनाये है। रेल और मोटर के चित्र

वह पहले वहीं देख आया था। दीवारों पर चारों ओर कुछ लिखा भी है पंडितजी ने, वह तो नहीं समझ सका लछमियाँ, पर किसी को पढ़ते हुए सुना उसने, उस लेख का एक अंश था—"बढ़ चलो।"

भूमि पर कुछ चूने और गेरू से रँगे पत्थरों से पंडितजी ने स्कूल के पथ के दोनों किनारे चमका रखे थे और बीच मे उन्ही से रेखागणित की कुछ आकृतियाँ बना रखी थीं। आकृतियों के बीच में कुछ फूल के पेड लगा रखे थे। एक दिन लछमियाँ फुलवाड़ी और पथ के पेड और पत्थरों को जाकर अस्त-व्यस्त कर आया था, पर स्कूल की दीवार पर बडे परिश्रम से अंकित किये गए रेल और मोटर के चित्र न मिटा सका वह। रेल और मोटर के वे कौतूहल-भरे शब्द जो गाँव के भीतर उसमें एक अद्भुत आकांक्षा उपजाते थे, स्कूल की दीवार ने उन्हें उसकी आँखों में उभार दिया। स्कूल ने जो रंग पहने थे, उनकी ओर लछमियाँ आकर्षित हो गया। वह मनोयोग से पिता और पंडित जी का स्कूल-सम्बन्धी संवाद सुनने लगा।

किसान बोला—"परन्तु मैंने तो यह सुना है, इन नये पंडित जी की लाठी छीनकर कचहरी मे जमा कर ली गई है। इन्हे बालकों को मारने-पीटने का हुक्म नहीं रहा।"

"यही तो मैं भी कहता हूँ। मारने-पीटने का युग चला गया। लाठी बालक के भीतर भय उत्पन्न कर उसे बोदा और निकम्मा कर देती है।"

"और मैं समझे हूँ जिसकी लाठी उसकी भैंस। लाठी से भय, भय से प्रीत। नया जमाना है, ठीक हो जायगा यह स्कूल जाकर?"

"अवश्यमेव! क्यों रे, स्कूल जायगा?" पंडितजी ने लछमियाँ से पूछा।

आँसू सूख गए थे उसके गालों पर और सिसकियाँ खिल पडी थी उसकी मुसकान में। उत्तर दिया उसने—"हाँ जाऊँगा।"

पिता ने फिर पूछा—"जायगा?"

"जाऊँगा तो कह रहा हूँ।"

"विद्या पढ़ेगा ?"

"हाँ,हाँ पढ़ूँगा। खोल तो दो।"

पंडितजी बोले—"खोल देते क्यों नहीं ?"

पिता ने लछमियाँ को खोल दिया। वह खड़ा रहा वहीं पर, कुछ देर हाथ-पैर और पीठ को मलता हुआ।

"शास्त्रों में लिखा है—" पंडित जी ने शास्त्र की गठरी खोली, "जो अपने पुत्र को पढाता-लिखाता नहीं, वह पिता बैरी है अपनी सन्तान का।"

"हम क्या स्कूल ही गए थे ? लेकिन काम करना तो सीखा, यह तो उपद्रव करता है दिन-भर। दूसरों के किये हुए काम को बिगाड़ता रहता है। कम-से-कम चार-पाँच घंटे बन्धन में तो रहेगा। हम निश्चिन्त होकर घर छोड़ सकेंगे और पड़ोसी बेखटके खेतों पर काम करेंगे।"

दूर पर एक गाय खेत में जाने लगी थी। लछमियाँ के हाथ अवसर आया। एक पत्थर उठाकर वह गाय की ओर "हऽऽट! हऽऽट!" कहता हुआ बढ़ गया।

पंडितजी ने रिक्त लोटा उठा लिया—"कल इतवार, परसों को भरती कर आओ इसे। मैं कह दूँगा पंडितजी से आज ही।" उन्होंने जाने का उपक्रम करते हुए कहा—"दिन-भर एकादशी का व्रत किया है। कुछ घुइयाँ दे आया हूँ उबालने के लिए और लोटा लेकर चला हूँ कुछ...."

पंडितजी को भरोसा था वह उनका अधूरा वाक्य ही उनके शून्य लोटे की हवा निकाल उसको भी भर देगा, परन्तु वह किसान मुँह ताकता ही चुप खड़ा रह गया।

बाध्य होकर फिर पंडितजी को ही कहना पड़ा—"इस लोटे में कुछ दूध तो दे दो।"

"कुछ क्या पंडितजी, सारा लोटा भर देता, इसी का तो रोना

रो रहा था; चूल्हे मे आग जलाकर कड़ाई-भर दूध की रबड़ी घोटकर पी गया यह लछमियाँ। कहाँ गया ? फिर आँख में धूल डालकर किधर चला गया ?"

निराश होकर पंडितजी लौट गए। मन में सोचते जाते थे— "बडा दुष्ट लडका है और कितना चालाक है यह ! पेट नहीं बढ़ सकता था उसका, परन्तु उसने दूध को रबडी में सिकोड़ लिया। कढाई-भर दूध ! छोटी कढाई भी होगी तो इस लोटे से दो लोटे दूध तो आता ही होगा उसमे। व्यर्थ ही खुलवा दिया दुष्ट को। स्कूल में भरती हो गया तो कदाचित् अगली एकादशी को भर जायगा लोटा।"

सोमवार के दिन पिता पुत्र का हाथ पकड़कर ले चले स्कूल को। लाल-पीली मिट्टियो के रंग और खडिया-चूने की उज्वलता मे चमक उठा वह बेसिक स्कूल दूर ही से। उसी रंग और रेखा के फेर मे पड़ा हुआ वह ऊधमी बालक चला जा रहा था स्कूल को।

स्कूल की रूखी दीवारों में क्या आकर्षण था ? मूलकता आकर्षण की ही तो है—वही चेतना का स्वभाव है। स्वर्ण ने उसी आकर्षण से अपना मूल्य बढा रखा है और मनुष्य को दौड में अन्धा बना दिया है। फूलों ने मोहकता मे तितलियों में गति दे रखी है। सूर्य ने अपने प्रकाश से सारे सौर जगत को अपनी परिक्रमा में चकरा दिया है।

चूना पोतकर वह दीवार दृढ़ हो गई होगी, परन्तु उसमें कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ था। बहुत-से चंट बालक जेल से अधिक महत्व नहीं देते थे उस स्कूल को और कदाचित् हमारे शिक्षण की दुर्बलता ने हमारे बहुत-से बालकों को समाज के अशुद्ध नमूनों में बदल दिया था।

जिस नवीन मनोवैज्ञानिक आधार को लेकर हमारी शिक्षा-पद्धति बढ चली है, उसका नव प्रवेश उसकी दुर्बलता हो सकती है, परन्तु संस्कार पा लेने पर उसका भविष्य उज्वल है।

बहुधा हमारे शिक्षकों का लक्ष्य रहता है महीने की समाप्ति और

वेतन की प्राप्ति; तथा छात्रों का उद्देश्य रहता है परीक्षा की समाप्ति और सरकारी नौकरी की प्राप्ति। हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक आरम्भिक स्कूलों का शिक्षक है। आर्थिक कष्टों की चिन्ता-मुक्ति के बिना उसकी सेवा-भावना पवित्र नहीं हो सकती। बिना उसके पवित्र हुए न छात्रों की मानसिकता आगे बढ़ सकती है न देश की नागरिकता ही।

पिता-पुत्र दोनों स्कूल में पहुँच गए। लछमियां ने देखा उसके उलट-पलट दिये रँगे हुए पत्थर फिर यथास्थान सजा दिये गए थे। स्कूल के प्रति उसका मोह जाग उठा। मन-ही-मन उसने प्रतिज्ञा की "अब न कोई बिगाड़ करूँगा स्कूल का।"

पिता को कभी स्कूल आने का न अवकाश ही मिला था न निमंत्रण ही। सब लड़के हाथ जोड़कर खड़े थे; सामने एक ऊँचाई पर पंडित जी भी। सब मिलकर प्रार्थना कर रहे थे भगवान की। एक कोने में किसान भी प्रार्थना की समाप्ति तक हाथ जोड़े खड़ा रहा।

सब लड़के पंडितजी की आज्ञा पा पंक्ति बाँधकर स्कूल के भीतर प्रविष्ट हो गए। पिता ने पंडित जी को प्रणाम किया।

"क्या है ?" पंडितजी ने पूछा।

"महाराज, इस छोकरे को भी अपनी शरण में रख लीजिए।" कहकर उस किसान ने अपनी जेब से एक मुड़ा हुआ पत्ता निकाला, उसमें कुछ रोली और अक्षत थे। अँगूठे में रोली लेकर वह पंडितजी की ओर बढ़ा।

पंडितजी पीछे की ओर हटने लगे—"क्या है यह ?"

"हमारी प्राचीन प्रथा महाराज। आपने जिस प्रकार स्कूल की दीवारों को रंगों से सचित्र और पवित्र किया है, ऐसे ही मैं भी आपको पूजा देता हूँ। यह सनातन प्रथा है। इसमें क्या संकोच ?"

पंडितजी ने माथा दे दिया। किसान ने उसमें दो बार नीचे से ऊपर को एक रेखा में अपने अँगूठे से रोली का अंक भर दिया। बीच में कुछ अक्षत चिपका दिए। फिर हाथ जोड़कर पंडितजी को एक चाँदी

का रुपया साबुन सुपारी के सहित देने लगा।

"यह क्या है?"

"दक्षिणा।"

"नहीं।"

"क्यो नहीं? गन्धाक्षत जो किया है आपके?"

"स्कूल मे नहीं माना जाता गन्धाक्षत।"

"फिर यह दीवारों पर आपने जो रंग दिये हैं।"

"रंग लगा तो चुके हो। दक्षिणा की आज्ञा नहीं है बिना रसीद दिये।"

"रसीद दे देना फिर, रख लो अपने-आप आई हुई लक्ष्मी नहीं लौटाई जाती।"

"जब भरती करूँगा तभी लूँगा, रखो अभी।"

पंडितजी की उस निस्पृहता से मोहित हो गया वह किसान। रुपया-सुपारी जेब में रखकर बोला—"धन्य हैं आप पंडितजी, आपने स्कूल का दूकानदारीपन दूर कर उसमे ईश्वर भी मिला दिया, गीत भी जोड़ लिये और रंग भरकर उसे विद्या-मन्दिर बना दिया। धन्य हैं आप! इसे भी पढ़ा-लिखा देंगे आप?"

"मनुष्य पढ़ जाने के लिए उत्पन्न हुआ है। ठीक तरह से पढ़ाया जाय तो सभी पढ-लिख सकते हैं।"

"नटखट लड़के भी भरती किये हे आपने? वह क्या पढ-लिख भी गए हैं?"

"नटखट वास्तव में लडके होते नहीं हैं, बना दिए जाते हैं, कभी माता-पिता के बहुत ढील छोड देने से या कभी बहुत नियंत्रण रख देने से।"

"आप न बहुत ढील छोडते हैं और न बहुत कसकर ही रखते हैं?"

"हाँ, यही बात है। दोष प्राचीन पद्धति का था। वह विद्यार्थी के

मन को रस्सी से बलपूर्वक खूँटे से बाँध देता था जिससे वह विद्रोही हो जाता था।"

"और आप क्या करते है ?"

"विद्यार्थी के आँख और कान, उसको बहकाने वाले उसके शत्रु इन्हीं दो द्वारों से उसके पास आते है। हम सबसे पहले उन्हीं को बन्द कर देते है। आँखों को ढकते है रंग से और कानो मे भर देते हैं राग।"

"धन्य हो पंडितजी आप तो; सुन रहा है रे लछमियाँ तू ?"

"बाहरी प्रभाव से मुक्त होकर उसका मन हमारे वश मे आ जाता है और फिर हम उसमे अक्षर और अंक दोनो अच्छे प्रकार जमा देते हैं।"

"बस, ऐसे ही इसे भी सिखा दो महाराज।"

"क्या नाम है इसका ?"

"लछमियाँ।"

"कुछ जानता भी है ?"

"जानने को तो बहुत जानता है, पर वह सब शायद आपके स्कूल मे काम न आ सकेगा।"

"मेरा मतलब है कुछ पढ़ता-लिखता भी है ?"

"नहीं महाराज, काला अक्षर भैंस बराबर।"

"अच्छा, दरजे मे बिठा दो इसे। पहली तारीख को नाम लिख दिया जायगा इसका।"

पिता ने लछमियाँ को दरजे में बिठा दिया और कुछ सोचता हुआ घर को जाने लगा। कुछ दूर जाने पर ही वह पंडितजी के पास लौट आया।

पंडितजी पढ़ाने लग गए थे। किसान ने बाहर खड़े होकर उन्हें बुलाने का संकेत किया।

"क्या है ?" पंडितजी ने कुछ रुखाई से कहा।

"बड़ा जरूरी काम है, यहाँ आइए।"

'हर प्रकार की मनोवृत्ति से व्यवहार रखना पड़ेगा,' सोचते हुए पंडितजी बाहर आये।

"देखिए, एक बात है। आँख-कान की बात तो मेरी समझ में आ गई। परन्तु मुँह कैसे बंद करते हैं आप इनका ?"

"वह तुम्हारा काम है। खिला-पिलाकर भेजना इसे।"

"ठीक है। एक बात अच्छी की है आपने। स्कूल के हाते में सिर्फ फूलों के ही पेड़ लगाये हैं।"

"अच्छा जाओ। मेरे काम मे बाधा पड़ती है।"

"पंडित जी आपका स्वभाव और इन्तजाम देखकर तो मेरी भी इच्छा आपके स्कूल मे भरती हो जाने की हो रही है। पर हड्डियाँ बहुत पक्की हो गईं, मेरी लचक जाती रही।"

हँसते हुए पंडितजी दरजे के भीतर चले गए।

घर जाकर उसने लछमियाँ की भरती का समाचार पत्नी को सुनाकर कहा—"बडी अच्छी राय दी पंडितजी ने। एक लोटा दूध दे ही आओ उन्हे आज।"

दो

. . . .

लछमिगाँ बेसिक स्कूल मे भरती हो गया। आरम्भ के कुछ दिन तो ठीक-ठीक ही बीते। फिर उसके भीतर जो चपलता थी उसके अंकुर लगे फूटने। पण्डितजी ने इस बात पर ध्यान दिया और मन में यह निश्चय किया—यदि इस बालक की मानसिकता हाथ आ गई, तो निःसन्देह इसमे एक असाधारण योग्यता प्रकटाई जा सकती है।

पण्डितजी बेसिक के मूल में मनोविज्ञान को ही मानते थे। बाल-शिक्षा उनके जीवन की रुचि थी, व्यवसाय नहीं। उन्हे बाल-मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन था। उन्होने यथानियम बेसिक-शिक्षा की योग्यता भी पाई थी और पश्चिमी दृष्टिकोण को भी पढ़ा था। यह सब होते हुए भी उनका एक अपना दृष्टिकोण था। बेसिक के अनेक वादों को विवाद मानते थे वह। पश्चिम की रीति-नीति पर आँख बंदकर चलना स्वीकार न था उन्हे।

वह बाल-मानस को ही शिक्षा का सर्वप्रथम, सबसे कोमल और सबसे आवश्यक क्षेत्र मानते थे। वह देश के लिए योग्य नागरिक और घर के लिए योग्य अविभावक का जन्म वहीं पर मानते थे। वह कहते थे, बाल-मानस ही वह भूमिका है जहाँ पर चरित्र-निर्माण की पहली शिलाएँ न्यस्त की जाती हैं। उजाले और अन्धकार की दिशा-सूचकता मनुष्य वहीं पर प्राप्त करता है और वही पर उसका पथ-निर्देश होता है। जब पथ-निर्देश हो गया तो फिर अपनी स्वाभाविकता से ही वह

लक्ष्य की ओर बढ़ चलता है। प्रगति कोई वस्तु नहीं और उद्देश्य की भी सार्थकता तभी है यदि मार्ग निश्चित हो गया हो।

हमारा राष्ट्रीय शिक्षा-क्रम अभी प्रयोग की कढ़ाई मे पड़ा है। विदेशी शासन ने जो उसका ढाँचा बनाया था वह शासन की मशीन के लिए चाहे उपयुक्त चालक बना सकता हो, आदर्श नागरिक नहीं। यह प्रकट सत्य सब पर विदित है। परन्तु वह शिक्षा-क्रम बिना प्रयास ही प्राप्त हो जायगा या थोडे-से मनुष्यो की भूप्रदक्षिणा करने से उद्भावित हो सकेगा, यह भी एक असम्बद्ध कल्पना-सी है। निरन्तर प्रयोग, निरीक्षण और अनुभव से ही वह सिद्ध होगा।

राष्ट्र की जन्मभूमि स्कूल है—समर-क्षेत्र नहीं। उसका बल नैतिक बल है पशु-शक्ति नहीं। शिक्षा का प्रश्न रोटी से पहले है और उसका उद्देश्य भी रोटी नहीं है। रोटी हमारी जीविका हो सकती है, वह हमारा जीवन नहीं है।

फिर शिक्षा का उद्देश्य क्या है? उसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। इसमे कहीं दो मत नहीं है। परन्तु चरित्र एक सन्दिग्ध शब्द है, जिसकी व्याख्या में अवश्य ही मतभेद है। पश्चिम का चारित्रिक आधार कुछ और है, हमारा कुछ और।

सामाजिकता मनुष्य की बनावट है। चारित्र्य के सूत्र कुछ और ऊँचे है। वह एक विज्ञान है। सारी सृष्टि मे नियम की व्यापकता ही तो वैज्ञानिकता है। क्या वह वैज्ञानिकता, ज्ञान और कर्म का समन्वय नही है? क्या वह धर्म, विचार और श्रम का साम्य नहीं है? क्या वह सत्य, पण्डित और शूद्र का भाईचारा नही है?

विचार और कर्म के भेद ने ही वर्ग-विन्यास बढाया है, पाखंड की जड पर सिंचन किया है और ऊँच-नीच का कलह उत्पन्न किया है। क्या ऐसा साम्यवाद अर्थ की प्रेरणा है या शिक्षा की?।

बेसिक का विद्यार्थी अपना शिक्षा-व्यय स्वयं ही उपजा लेगा और राष्ट्र का धनकोष भार-मुक्त होकर मद्य-विभाग के घाटे की सहज पूर्ति

कर लेगा, पंडितजी को इस सूत्र के प्रति आदर था। इसकी सम्भावना पर उनका विश्वास भी था, परन्तु प्रयोग और उदाहरण क अभाव में कैसे विरोधियों का मुख बन्द किया जा सकता था।

पण्डितजी के शिक्षा-प्रेम, जनता-हित, सद्भाव, सच्ची लगन और निःस्वार्थपरता का प्रभाव था अधिकारियों पर। पण्डितजी ने प्रयोग के लिए एक ग्राम की पाठशाला माँगी; उन्हें दे दी गई। उसमें उन्होंने अपने ही नमूने, अपने ही क्रम और अपने ही अनुशासन का प्रचलन माँगा; वह भी उन्हें दे दिया गया।

पण्डितजी ने उस पाठशाला क लिए विद्यार्थियों का संग्रह किया। नगर की जटिलता मे उनका शिशु-समूह प्रयोग के लिए बड़ी बाधा था, इसीसे उन्होंने ग्राम का एकान्त चुना और ग्राम के बालकों की सहज-सरलता पर आकर्षित हुए। कौन नही जानता कि विशुद्ध भारतीयता के अधिवास हमारे ग्रामों के ही मंडल हैं।

अपन स्कूल के लिए उन्होंने वहाँ प्रत्येक जाति और वर्ग के विद्यार्थियों का संग्रह करना आरम्भ किया। उनकी इच्छा थी धूर्त-से-धूर्त विद्यार्थियों के कुछ नमूने भी उसमें संग्रहीत हो जाते तो अच्छा था। लछमियाँ ज्यों-ज्यों उनके दरजे में खुलता गया, त्यों-त्यों पण्डितजी समझने लगे कदाचित् वह उनके इष्ट नमूनों मे से एक था।

शिक्षा की निषेधात्मकता पर विश्वास न था पण्डितजी का। जब उनके विद्यार्थी बातें करने लगते थे तो पंडितजी उसे अपनी दुर्बलता समझते। वह कभी किसी से यह नहीं कहते कि बातें मत करो। दरजे मे किसी मनोरंजक तत्व की सृष्टि करते; कोई कहानी आरम्भ कर देते, हारमोनियम निकालकर गीत छेड़ देते, नृत्य के ठुमके बजाते, कोई नाटक चला देते या सबको खेल के मैदान में नियोजित कर देते।

अक्षर के नाम का अ और अंक के नाम का १ अभी तक नहीं चला था उनके दरजे में। अक्षर तो एक कल्पना है ही, वह गणित को भी कल्पना में ही सम्मिलित करते थे। आरम्भ में ही बालक को

कल्पना पर भार डाल देना ठीक नहीं समझते थे वह। पहले उसे जगाना होगा। कल्पना को जगाने का साधन है कला; उसके पश्चात् उसे शक्ति देने के लिए अंक और परिपूर्णता के लिए सबके अन्त मे अक्षर।

दंड और पुरस्कार की भावना, इन दोनों को भी वह शिक्षा-शास्त्र का वैषम्य समझते थे। पहला विद्यार्थी की प्रतिहिंसा को बढाता था तो दूसरा उनके मिथ्या अभिमान को।

एक ही दरजा था उनके स्कूल का और एक ही अध्यापक थे वह स्वयं। दीवार में जड़ा हुआ विशाल श्यामपट और पण्डितजी के एक तख्त के अतिरिक्त और कुछ फरनीचर न था वहाँ। तख्त केवल शोभार्थ ही था। पण्डितजी बहुधा बालकों के बीच में ही उठते-बैठते और चलते-फिरते थे।

भूमि पर ही सब बैठते थे। छोटी-छोटी दरियाँ बिछी हुई थीं, दीवारों के निकट। तीन ओर विद्यार्थी बैठते, एक ओर पण्डितजी का तख्त था। बीच का रिक्त स्थान भूमिकाओ का क्षेत्र था। उसमे एक लाल दरी बिछी रहती थी और उसका नाम रखा गया था 'कर्मक्षेत्र।' वहाँ कभी भाषण होते, कभी अभिनय, कभी कविता-कहानी, कभी नृत्य और कभी दंगल।

हाँ कभी दंगल—दंगल की बनावट नहीं, शुद्ध और सच्चा दंगल! जब दो विद्यार्थी दरजे मे झगड़ने लगते तो पण्डितजी उन दोनों में से किसी को बरजते तो थे ही नहीं, झगडे के उद्गम का न अनुसन्धान करते थे और न उसका विचार और न्याय। वह दोनों पक्षो को 'कर्मक्षेत्र' में ले जाकर खड़ा कर देते थे। दंगल होने पर कर्मक्षेत्र का नाम 'कुरुक्षेत्र' रख दिया जाता था।

बीच में दो लडते थे और समस्त दरजा उनको घेरकर उस दंगल का दर्शक बन जाता था। कोई एक को बढावा देता, कोई दूसरे का उत्साह बढ़ाता। कोई ताली बजाता और कोई हँसने लगता। एक

व्यक्तिगत झगड़े को सामुदायिक कौतुक में बदल देने का प्रभाव उन लड़ाकों पर बड़ा गहरा पड़ता और कदाचित् वे फिर कभी न लड़ने की शपथ ले लेते थे। पंडितजी छात्रों की मनोवृत्तियों को दबाकर नहीं खोलकर मिटा देते थे।

तकली पंडितजी के शिक्षाक्रम का एक मुख्य उपकरण थी। वह एक खेल-का-खेल था। वह छात्र के मस्तिष्क का भी एक अभ्यास थी। वह उनके हाथ, उँगली और दृष्टि को भी संयत करती थी। उसका अर्थ-शास्त्रीय उपयोग भी था। पंडितजी ने तकली का एक गीत बनाया था। कभी-कभी जब सब छात्र तकली चलाते थे तो पंडितजी बीच में हारमोनियम लेकर बैठ जाते और ऊन के तार के साथ गीत का ताल भी चलता। उन्होंने तकली का एक नृत्य भी बनाया था। एक हाथ में पहनी हुई ऊन की लट तथा दोनों पैरों में पहने हुए घुंघरू जब ढोलक की ताल में थिरक उठते तो एक मनोहर दृश्य आँखों को खींच लेता था। जिन्होंने वह तकली-नृत्य देखा है, वे कहते हैं वह उनकी प्रतिभा और कला-ज्ञान का सर्वथा मौलिक नमूना है।

लछमियाँ का मन लगने लगा स्कूल में। पंडितजी ने उसकी उद्दंडता के प्रकाशन के लिए लम्बी रस्सी छोड़ रक्खी थी और विस्तृत क्षेत्र दे रखा था। ठीक समय पर खा-पीकर वह सबसे पहले स्कूल में पहुँच जाता। इतवार को छुट्टी रहती थी। छुट्टी के दिन भी वह स्कूल का विछोह नहीं सह सकता था, उस दिन भी वहाँ पहुँच जाता। कभी अकेला ही और कभी दो-चार साथियों के साथ वह वहाँ कोई-न-कोई कार्यक्रम साधता।

घर पर लछमियाँ की कोई उद्दंडता कम हुई या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता था, परन्तु छः-सात घंटे के लिए गाँव से उसकी अनुपस्थिति पड़ौसियों के लिए एक आशीर्वाद बनकर अवश्य आ गई थी।

पिता उससे पढ़ाई-लिखाई की बात पूछते, लछमियाँ न्यारे-न्यारे ही राग सुनाता, तरह-तरह की उछल-कूद मचाता, कभी तकली घुमाता

और कभी नाच करता, कसरत दिखाता, कवायद करता।

पिता सोचते यह कैसी नई पढाई-लिखाई है। पुत्र की ऊन कताई से वह अवश्य प्रसन्न थे।

एक दिन उन्होने उससे पूछा—"बेटा, पढ़ाई-लिखाई नहीं होती तुम्हारे स्कूल में? किताब का तो कही नाम ही नही है तुम्हारे बस्ते में।"

"यह पाटी तो है।"

"पहले किताब, फिर पाटी।"

"झूठ बात! हमारे पडितजी कहते हैं संसार में ज्यों-ज्यों किताबें बढ़ती गईं, त्यो-त्यो बुद्धि का दिवाला निकलता गया।"

"बुद्धि का दिवाला कैसा?"

"दिवाले ही जैसा दिवाला, जो उलझन आई, झट किताब में देख ली। सिर पर तो कोई भार पडा ही नहीं। पहले के आदमी दिमाग में ही लिखते थे और समय पडने पर वहीं से निकालते थे।"

"हाँ, मैं क्या पढ़ा-लिखा हूँ, पर पुरानी-से-पुरानी याद ले लो मुझसे। पाटी मे क्या लिखते हो? तुम कहते हो, अ-आ तुम्हे लिखाये नहीं जाते, हिसाब तुम्हें सिखाये नहीं जाते।"

"पाटी में चित्र बनाते है हम।"

"फोटो खींचते हो! मेरी भी फोटो खींच सकते हो?"

"धीरे-धीरे खींच लूँगा।"

"लेकिन मेरी समझ मे यह बात नहीं आती, चित्र से लाभ क्या है? रोटी खाई जाती है, इसलिए उसका परिश्रम सार्थक है, ऊन से तन ढकता है, इसलिए कताई भी ठीक है, परन्तु इस चित्र से किसका पेट भरता है?"

"चित्र देखा जाता है, उसे देखकर दिमाग का पेट भरता है।"

"यह दिमाग का पेट कब से पैदा हुआ बेटा, हमने तो कभी सुना ही नही।"

"पंडितजी कहते हैं, जो कुछ भी हम बाहर देखते हैं, उन सबके

चित्र हमारे मन मे खिंचे रहते हैं। उसी का नाम 'याद' है। चित्र खींचने से हम उसकी शक्ति को बढाते है।"

सचमुच पाटियो मे केवल चित्र ही खिंचवाते थे पडित जी। अक्षर भी तो एक चित्र ही होते है। परन्तु उसकी परिधि बहुत छोटी है, केवल उसी भाषा का ज्ञाता उसे समझ सकता है; उसकी सार्वभौमिक पहुँच नहीं है। परन्तु रेखा और रंग से बना हुआ चित्र पढे-लिखे ही नहीं, निरक्षर ही नहीं, जंगली ही नहीं, विकास के बहुत नीचे स्तर पर स्थित पशु तक समझ जाते है।

आदि मे कदाचित् भाषा के निर्माण से पहले मनुष्य ने चित्र में ही अपनी भावुकता की अभिव्यक्ति की थी। पर-प्रस्तर युग की गुफाओ के चित्रो ने इनकी साक्षी दी है। अक्षरों के पूर्वज भी चित्र ही है। चित्रांकन मस्तिष्क की उर्वरता है। साक्षरता ने मस्तिष्क की स्पष्टता खोकर उसे दुरूहता दे दी। वास्तविकता को खोकर सभ्यता संकेत और प्रतीकों की माया मे खो गई। यथार्थवादी आदर्शवादी हो गया।

इसीलिए पंडितजी चित्रांकन को शिक्षा में सबसे पहला महत्त्व देते थे। उन्होने ड्राइंग शब्द का उपयोग भी छोड दिया था। वह उसे अत्यन्त भ्रष्ट भावना से सम्बद्ध समझने लगे थे। उन्होंने उसे कला के नाम से पुकारा।

ड्राइंग एक तुच्छ अनुकरण था, बाहर-ही-बाहर बोझा ढोना, एक प्रतिलिपि से दूसरी प्रतिलिपि, जीवन और स्पंदन से विरहित—एक मूकता, शून्यता!

कला क्यो अनुकरण नही है? कला को अनुकरण के कलंक से बचाने के लिए उसको कल्पित रुढ़ियों से भर देना क्या हमारी भ्रमात्मकता नही है?

कला अनुकरण हो सकती है। वह भीतर-बाहर के भेद से समन्वित है इसलिए अनुकरण नहीं वह सर्जना है। बाहर से भीतर—वास्तविकता से मानसिकता में, धरणी से धारणा मे, फिर भीतर से बाहर—भावुकता

से चित्र के पट पर यही रचना है, यही सृष्टि है। बाहर-से-बाहर—यह है अनुकरण, जडता—केवल जडता, दासता है संस्कृति नहीं, निर्जीवता है, भावुकता नहीं।

ड्राइंग हमारी जडता थी और जडता की वृद्धि करने के लिए हमारी लेखनी का सहचर बना दिया गया रबर। कहा तो गया था वह हमारे श्रम मिटाने के लिए है, परन्तु बढ़ा दिए उसने हमारे श्रम ही। विदेशी व्यवसाइयो ने वह श्रम का सम्बन्ध अटूट कर दिया पैंसिल के दूसरे सिरे मे रबर को जोड और जडकर। एक सिरे पर लिखना और दूसरे पर मिटाना। वह निर्माण का साधन था या ध्वंस का। पंडितजी को रबर से बडी घृणा थी। वह कहते थे यदि मैं राष्ट्र की शिक्षा का विधायक होता तो चित्रकला से रबर के निष्कासन के लिए ही सर्वप्रथम हस्ताक्षर करता।

लेकिन पंडितजी की उस चित्रकला मे लछमियाँ का कुछ भी मन नहीं लगा। जब चित्र-जैसी कला की यह दशा हुई लछमियाँ की पाटी पर, तो अक्षर और हिसाबों को पाकर तो न जाने वह कब का भाग खड़ा होता पंडितजी की पाठशाला से!

सारा दरजा अपनी-अपनी पाटियाँ अपनी-अपनी गोद मे लेकर बैठा था—घुली हुई खडिया सामने दवात मे और लेखनी हाथों में।

पंडितजी बोले—"अनार का चित्र खींचो।"

कुछ उतावले हाथ दौड चले पाटी पर।

पंडितजी कहने लगे—"पहले मन मे अच्छी तरह सोच लो। हमारे मन के भीतर एक आँख है। मन की आँख, उसी को खोलना कला का मुख्य उद्देश्य है।"

लछमियाँ मन में सोचने लगा—"यह बहका रहे हैं पंडितजी। मन के भीतर कौन आँख है? वह होगी भी तो खुलकर भी उस अँधेरे में क्या देखेगी?" पंडितजी के विरुद्ध विद्रोह जमा करने लगा वह।

पंडितजी कह रहे थे—"जो कुछ बाहर तुम देखते हो वह सब

तुम्हारे मन के भीतर भी दिखाई देता है। उसे स्पष्ट देखने के लिए कुछ देर के लिए बाहर की आँख बन्द कर सकते हो।"

लछमियाँ के पार्श्व में बैठा हुआ एक सहपाठी पंडितजी का अन्ध-भक्त था। वह आँख बन्द कर मन की आँखें खोलकर अनार को देखने लगा।

लछमियां ने अवसर पाया, पंडितजी की आंख बचाई और उस आँख बन्द किये सहपाठी के एक धप मारकर उसकी टोपी भूमि पर गिरा दी।

सहपाठी रोने लगा।

पंडितजी ने अपना आवेश सँभालते हुए पूछा—"क्या हुआ ?"

"पंडितजी, मार दिया !"

"किसने ?"

छात्र ने लछमियाँ की ओर देखा। पंडितजी ने भी उस पर दृष्टि की। लछमियाँ आँख मूँदकर ध्यानावस्थित हो रहा था।

पडितजी ने कहा—"लछमियाँ !"

"हाँ पंडित जी दिखाई दे रहा है। गोल-गोल ! मै उसके सिर पर मुकुट भी देख रहा हूँ।"

"लेकिन इसके सिर पर की टोपी किसने गिराई ?"

लछमियाँ ने आँख खोल दी—"मैं क्या जानूँ पंडित जी, मै तो आपकी आज्ञा मानकर मन की आँख को उघाडने मे लगा हुआ था। अनार का मुकुट बडा बढ़िया है खोपडी के साथ एकजान। न कभी गिर सकता है, न कोई उसे गिरा सकता है।"

पंडितजी खिलखिलाकर हँस पडे, सारा दरजा भी।

लछमियाँ कहने लगा—"मैं जान गया, इसने मन की आँख मे अनार का समूचा पेड देखा होगा और फिर पत्थर मारकर अनार का दाना गिराया होगा। उसी मे टोपी गिर गई। भैया ! तुडा-तुडाया अनार देख। मन के भीतर तो इतना परिश्रम करने को तैयार हो गया

और बाहर एक छोटी-सी भूमि पर गिरी टोपी उठाकर सिर पर नही रख सकता।"

सभी फिर हँसने लगे।

लछमियाँ ने सहपाठी की टोपी उठा ली। उसी से उसके दोनों गालों पर के आँसू पोछ टोपी उसके सिर पर जमाते हुए कहा—"अब कभी पत्थर मारकर किसी का फल मत तोडना। जब सब हँस रहे हैं तो अकेले रोना ठीक नहीं है।"

छात्र ने पंडितजी की ओर देखा। उसका रोना बन्द हो गया था।

पंडितजी बोले—"ठीक तो है। हँसना साथ का ही है। रोना तो अकेले एकान्त की वस्तु है।"

"फिर मारा किसने मुझे?"

"जब तुम्ही नहीं बता सकते तो मैं क्या करूँ?"

लछमियाँ बोला—"अनार के पेड़ का मालिक तो नहीं था?"

"अच्छा फिर सोचो। पूरी ठोस गोलाई मे सोचो अनार के दाने को। रेखा ही नहीं उसकी रंगत को भी देखो। देख रहे हो न?"

एक लडके ने पूछा—"आँख बन्द कर या खोलकर?"

लछमियाँ बोला—"रूप-रंग तो जो हुआ सो हुआ पंडितजी, तोड़कर दानों की मिठास की जाँच भी करें तो कैसा?"

"बहुत बढिया बात! अवश्य ही दानो की मिठास की जाँच भी करनी है। यद्यपि इस समय चित्रांकन मे इसका कोई उपयोग नहीं है। फिर भी इस बात पर कुछ शब्द कहने ही चाहिएँ मुझे।"

ऐसे थे पंडितजी, लडको की किसी बात पर वह अपने स्वभाव की सहज गति खो देने के लिए कभी तैयार ही न होते थे। लछमियाँ के बुरे-से-बुरे उपद्रव में भी वह अच्छी-से-अच्छी बात ढूँढ ही लेते थे।

पंडितजी कहने लगे—"पढना-लिखना शिक्षा का साधारण उद्देश्य है, उसका मुख्य उद्देश्य है, चेतना का विकास। आँख, कान, नाक, मुख और स्पर्श—चेतना के ये मुख्य द्वार हैं। इनकी शक्ति का परिपूर्ण

विकास ही शिक्षा की उद्देश्य-सिद्धि है। ध्यान से इनकी शक्तियों की वृद्धि की जाती है। अभी कदाचित् तुम्हारी समझ में कुछ न आ रहा हो ··"

"आ रहा है पंडित जी, कहते जाइए, सब समझ मे आ रहा है। अनार तोडकर उसके खाने की बात पर आइए," लछमियाँ बोल उठा।

"हाँ वही पर आता हूँ। जब तुम सोने लगते हो तो आँख बन्द कर किसी फल को देखो, मन में आँखो से उसके रूप-रंग को देखो, खाकर उसका स्वाद चखो, नाक पर रखकर उसकी गन्ध सूँघो, हाथ पर लेकर उसका भार ज्ञात करो, उसकी ठंडक-गरमी की जाँच करो, उसके रूखे और चिकनाईपन का अनुभव करो। ठीक-ठीक ध्यान देकर अगर हम विचारें तो हम सब-कुछ मालूम कर सकते है—रूप भी, स्वाद भी, गन्ध भी, भार भी। कर सकते हैं न?"

लछमियाँ ही दरजे-भर मे सबसे अधिक वाचाल था। बोल उठा, "हाँ पंडितजी महाराज!"

"जो कुछ बाहर जगत मे है, वही भीतर मन में भी है। बाहर होने पर उसका नाम वस्तु है और भीतर होने पर उसका नाम विचार है।"

"और अगर ताले मे बन्द है तो फिर?" लछमियाँ ने पूछा।

कुछ सोचकर पंडितजी ने कहा—"हाँ, यदि दिखाई नही दे रही है तो विचार में ही हुई।"

फिर पूछा उसने—"और यदि फूल मे है?"

चकित हो पंडितजी ने पूछा—"फूल मे कैसा?"

"हाँ पंडितजी, जैसे एक अनार का पेड है। मान लीजिए इसमे अभी अनार नही लगे है, केवल फूल लगे हैं। पर फूल मे अनार है तो सही?"

"अवश्य है।"

"कहाँ है फिर?"

"वह भी विचार ही मे है। आ गया समझ मे?" पंडितजी ने पूछा।

"ऊँ हुँ," अँगूठा हिलाकर लछमियाँ बोला, "नहीं पंडितजी नहीं आया समझ मे।"

"क्यो नही आया?"

"सुनिए, आप है, अनार का पेड भी है और उसमे फूल भी लगे है। लेकिन आप—आप ऐसे हैं जिन्होने अनार कभी देखा ही नही है, तो बताइए अनार कहाँ पर है?" लछमियाँ ने पूछा।

लछमियाँ के मुख से इस दार्शनिक पहेली को सुनकर पंडितजी बहुत प्रसन्न हो गए—"चिरंजीवी हो लछमियाँ, बडा बढिया प्रश्न तुमने पूछा। इसमे कोई संशय नहीं, यदि पढ़ने-लिखने मे तुम्हारा मन लग गया तो तुम एक दिन बडे पंडित हो जाओगे।" कहकर पंडित जी उस प्रश्न का उत्तर देने के लिए विचार-मग्न हो गए।

"अनार कहाँ है पंडितजी?"

"वह भी विचार ही में है।"

"कभी देखा नहीं है।"

"न हो देखा, विचार अनुभव-जन्य ज्ञान ही नही है ..."

"आप हमारी मूर्खता में अपनी दुर्बलता छिपा देने को संस्कृत बोलने लगे।"

"कभी नहीं। तुमने अपने दादा को देखा है?"

"नहीं, वह मेरे पिता को दस वर्ष का छोडकर स्वर्गवासी हो गए थे।"

"ठीक है, तुमने उन्हें देखा नहीं है, पर वह तुम्हारे विचार मे आ गए न? ईश्वर को भी हमने देखा नहीं है, परन्तु वह हमारे विचार मे रहता है।" पंडितजी ने उत्तर दिया।

"आप बहुत होशियार हैं पंडित जी," लछमियाँ बोला।

"विचार जब मन मे जमकर स्पष्ट दिखाई देने लगता है तो ध्यान कहलाता है," पंडित जी ने कहा।

लछमियाँ ताली बजाकर उठ खड़ा हुआ—"सुर, नर, मुनि ध्यान धरत—वह ध्यान और यह ध्यान एक ही बात है पंडितजी ?"

"बिलकुल एक ही बात।"

"फिर आपने इसका नाम स्कूल क्यों रख दिया ? यहाँ तो आप कुछ और ही बात सिखा रहे हैं ? चल सकेगा आपका यह स्कूल कुछ दिन ?"

हँसकर पंडितजी कहने लगे—"अच्छा अनार का ध्यान करो, उस का मुकुट भी देखो और उसकी ठोस गोलाई भी सोचो।"

मुख पर बड़ी असमंजस और कठिनता प्रकट कर एक लड़का बोला—"ठोस गोलाई कैसे पंडित जी ?"

"उजाले की सहायता से, मन मे एक ज्योति जलाओ।"

"आरती भी आ गई ! वाह पंडितजी, लेकिन परसाद का पता ही नही !" लछमियाँ ने मुँह खोला।

"अगर मन मे पूरी गोलाई जाग गई तो पूरा अनार का दाना हाथ आ जायगा और वह अच्छे-से-अच्छे प्रसाद के रूप मे हो जायगा। बाहरी प्रसाद सब धोखा है; जो मन मे है, वही सत्य है।" पंडितजी ने कहा।

"कदापि नही। अगर ऐसा होता तो न बैलों के कन्धों पर होता जुआ, न मनुष्यों के सिर पर बोझ, न प्रजा को देना पड़ता लगान, न राजा का सँभलता मुकुट। न चलती चक्की, न जलता चूल्हा," लछमियाँ ने कहा।

"क्यो !"

"क्यो ? ज्यो-की-त्यो ! ठोस गोलाई नहीं, अगर कहीं चपटी गोलाई भी मन मे उपज गई, तो मार लिया मैदान ! रोटी और पैसा दोनो मिल गए, बिना नौकरी और बिना परिश्रम। आपने कहा न कि बाहर धोखा है और भीतर मन में सच्चाई। वाह पंडितजी, सुबह आपके स्कूल आने से पहले फिर क्यों पतीली मे दाल गलाई जाती

है। मन में ठोस गोलाई सोच ली होती तो फिर क्यों ये तमाम गाँव-भर के बालक स्कूल में जमा करने पड़ते ?" लछमियाँ खड़ा होकर कहने लगा।

"अपनी समझ के योग्य बात तुम्हारी भी झूठ नहीं है। ध्यान एक योग है।" पंडितजी ने कहा।

लछमियाँ ने पाटी, दवात-कलम सब उठा लिये—"क्या पंडितजी घरबारियों के बालकों को आप जोगी बनाने जा रहे हैं। अभी आप कोई फीस नहीं लेते। किसी को ध्यान करना होगा तो वह जंगल में जायगा या आपके स्कूल में आयगा। आप कहते हैं, आपने बाहर स्कूल की दीवार में रंगीन अक्षरों में लिख रखा है—'बढ़ चलो !' सोचा था कुछ बढ़ा देंगे आप। लेकिन मैं तो जहाँ-का-तहाँ ही रह गया। कल आऊँगा अब, इस समय बड़ी जोर की टट्टी लग गई मुझे। घर को जाता हूँ।" लछमियाँ घर को चल दिया।

बलपूर्वक विद्यार्थी के गले में फन्दा डालकर उसे दरजे में बिठाना पंडितजी को इष्ट न था। आग्रह और उपदेशों का भी उपयोग नहीं करते थे वह। उपस्थिति का कोई रजिस्टर भी नहीं रक्खा जाता था। इसे वह विद्यार्थी की दासता बढ़ाने का साधन समझते थे। वह स्कूल और शिक्षण में इतना आकर्षण होना आवश्यक समझते थे कि विद्यार्थी स्वयं प्रेम और श्रद्धा से उसकी ओर खिंचता चला आए। यदि ऐसा भाव उसमें उत्पन्न नहीं हो सका, तो केवल उसके शरीर के दरजे में उपस्थित रहने से क्या हो जाता है ? शिक्षा में प्रमुख भूमिका तो मन की है। किसी भी विद्यार्थी को किसी समय कक्षा में प्रवेश करने की या उससे चले जाने की खुली छूट थी।

उनके स्कूल का कोई पाठ्यक्रम नहीं था। उसको ही निर्धारित करने का प्रयोग चल रहा था उनका। कोई समय-विभाग भी नहीं था। विद्यार्थियों की भावना पर ही यह अवलम्बित था। छात्रों के बहुमत को जिधर ढला हुआ पाते, उधर ही उन्हें नियोजित कर देते।

खेल की ओर उनका झुकाव देखा तो खेल के मैदान में चल पड़े; कताई की ओर प्रवृत्ति देखी तो लगे कातने; बातों की इच्छा हुई, तो बातों में लग गए—होने लगी कविता, कहानी, नाटक-प्रहसन; चित्र बनाने में उनका मन देखा, तो होने लगा 'ठोस गोलाई' का चिन्तन और अंकन; और नृत्य-गीत का आवेश देखा तो खुल पड़े ढोलक, हारमोनियम, मँजीरा, करताल।

पंडितजी का सिद्धान्त था—मानसिक शक्तियों के विकास में ताल की भारी प्रधानता है। उनका कहना था कि ताल की यदि ठीक-ठीक साधना की जाय तो स्वर उसी में से उपज जाता है। सारी कक्षा को नपे-तुले अन्तर के साथ-साथ ताली बजाने का भी एक पाठ्य-क्रम था उनका—कभी गीत के साथ और कभी बिना गीत के भी। ताल में काल का ही प्राकट्य है और मनोवैज्ञानिक कहते तो हैं काल की धारणा का एकाग्रता के साथ निकट सम्बन्ध है।

पंडितजी के स्कूल में एक घंटा अवश्य लटकता था गूलर के पेड़ में बँधा। अभी वह केवल दो बार बजाया जाता था—स्कूल आरम्भ होते समय और स्कूल की समाप्ति पर। काल की चैतन्यता हमारे बढ़ चलने की तैयारी है। काल चुपचाप बीत जाना चाहता है, दबे पाँव; उसे हमें छलने में आनन्द आता है। घंटा बीच-बीच में उसकी आहट ताल देकर हमें सजग कर देता है। स्कूल के आरंभ-समाप्ति के बीच के शून्य समय को भी विभाजित कर पंडित जी उसमें घंटों के विराम देना चाहते हैं—किसी विचार के स्थिर होने पर ही।

पंडितजी के कार्यक्रम में परेड और कसरत का भी विशेष भाग था। परन्तु केवल शारीरिक सम्वर्द्धन ही उनका हेतु न था। मानसिकता—केवल मानसिकता पर हो दसों दिशाओं से उनका लक्ष्य था। वह इस बात पर पक्का विश्वास रखते थे कि यदि हमारी मानसिकता परिपुष्ट है तो कोई कारण नहीं कि हमारा शरीर दुर्बल हो जाय। शारीरिकता मन की अनुचरी है।

पंडितजी ने परेड और कसरतों में नृत्य, ताल और गीत के अवयव प्रचुर मात्रा में सम्बद्ध कर दिए थे। वह कला और कसरत का मेल एक देखने योग्य वस्तु थी। उसमें बाजा भी बजता था और घुँघरू भी झंकृत होते थे।

लछमियाँ का सबसे प्रबल आकर्षण आरम्भ से ही उस परेड में था। चित्रांकन से वह ऊब उठने लगा था। गीत और कहानी में भी उसकी कोई रुचि नहीं रह गई थी। तकली के चक्कर भी उसके मन में पुराने पड़ गए थे, परन्तु परेड में उसकी उजड्डता को खुल-खेलने के लिए पर्याप्त क्षेत्र था।

धीरे-धीरे पंडितजी के स्कूल का कुछ कार्यक्रम तो बनता जाने लगा। पहले घंटे के बज जाने के पश्चात् ईश-प्रार्थना होती। भगवान् की प्रार्थना, उसके स्थान और समय के सम्बन्ध में कोई मनमानी नहीं हो सकती। सबसे प्रथम ही उसकी गणना होनी सर्वथा उचित है।

प्रार्थना के पश्चात् परेड होती थी। उसमें सम्मिलित होने के लिए लछमियाँ ठीक समय पर स्कूल में उपस्थित हो जाता। जिस दिन माता समय पर भोजन न बना सकती, वह दो-चार बासी रोटियाँ जेब में डालकर चला आता।

परेड में एक नेता होता था। वह गले में ढोलक डालकर लड़कों के आगे-आगे चलता था उसे बजाते हुए। प्रायः यह पद लछमियाँ को ही मिलता। ढोल पीटता हुआ नेता आगे बढ़ता, उसके पीछे दो उपनेता हाथों में डमरु लेकर उसे बजाते हुए चलते थे। उनके पीछे कभी चार, कभी तीन, दो और कभी एक पंक्ति में छात्रों की पलटन। चारों ओर मैदान था और बीच में स्कूल। पलटन स्कूल के चारों ओर मार्च करती थी। स्कूल का मार्च-गीत था —

बढ़ चलो, बढ़े चलो !
नये जवान बढ़ चलो !

है जगत नया, नवीन
आसमान बढ़ चलो !
डरो नहीं अगर दुखों का सिंधु-जल अथाह हो,
हो कदम जमा हुआ जमी हुई निगाह हो,
फूँक मार ठोकरें उड़ा दो साफ राह हो।
शंख बज गया पकड़
अमर निशान बढ़ चलो !
बढ़ चलो, बढ़े चलो
नये जवान बढ़ चलो !

गीत का शुद्ध अर्थ न समझते हुए भी लछमियाँ को वह पूरा-पूरा याद था। केवल उसकी 'बढ़ चलो' की टेक पर ही वह मुग्ध था। वह गीत को स्कूल से आते-जाते भी मार्ग में गाता था। खाते-पीते भी गुनगुनाता था और सपने में भी बड़बड़ाता था—

बढ़ चलो, बढ़े चलो !
नये जवान बढ़ चलो !
है जगत नया, नवीन
आसमान बढ़ चलो !

घर पर जब लछमियाँ रहता तो समस्त गाँव के लड़कों को एकत्र कर उनको मार्च कराता। वह हाथ में एक छड़ी लेकर अपनी अधिकारिता सँभालता। दंड-शासन का कोई आदर्श उसने अपने गुरुदेव से नहीं पाया था, परन्तु ठीक-ठीक न चापें मिलाने पर वह अपनी बाल-सेना के पैरों में पर्याप्त छड़ी के सटाके जमा ही देता था। वह गाता हुआ आगे बढ़ता—

"बढ़ चलो, बढ़े चलो !"

और उसका अनुगमन करती हुई सेना भी गाती हुई बढ़ती—

"बढ़ चलो, बढ़े चलो !"

पंडितजी कवि-चित्रकार, कहानीकार नाटककार, राजनीतिज्ञ-अर्थ-शास्त्री, प्रसूतात्विक इतिहासज्ञ और दार्शनिक-मनोविज्ञानी सभी कुछ थे। और इन सबके आकर्षण एवम् उपयोगिता का एकीकरण कर वह हो उठे थे मूलतः शिक्षा शास्त्री।

लछमियाँ को स्कूल मे भरती हुए एक वर्ष हो गया। स्कूल का आदर्श था—"बढ चलो!" उसकी ध्वनि थी—"बढ चलो!" इस 'बढ चलो' ने ही लछमियाँ को इतने दिन तक स्कूल से संलग्न रख दिया।

वह मन मे कहने लगा—'झूठा ही बढ चलो। कहाँ बढ़ चले? तकली घूमती है, बढ़ती नही। बैलगाडी की चाल भी उसमे होती तो अब तक कभी का नगर मे पहुँच गया होता। और परेड? वह भी केवल एक धोखा है, उसमे हम कुछ चलते अवश्य हैं, पर पंडितजी स्कूल के ही चारों ओर घुमा देते है। लौट-फिरकर फिर हम अपनी जगह में ही आ जाते है। भला आगे बढ़ना हुआ यह? अच्छा चक्कर हुआ यह! यदि यह सारा श्रम एक सीध मे होता तो अब तक हिन्दुस्तान की जड तक पहुँच जाता।'

लछमियाँ का मन स्कूल से उखड गया। पंडितजी ताड़ गए इस बात को। इसे उन्होने लछमियाँ की चपलता नहीं समझा, इसे मानने लगे वह अपनी घोर पराजय। वह मन मे सोचते थे—'यदि एक भी लड़का स्कूल से उकताकर भाग गया, तो उनका सारा प्रयोग मिट्टी मे मिल जायगा।'

वह भाँति-भाँति के उपायो से लछमियाँ को घेरने लगे। किसी नियम की कठिन ग्रंथियों मे स्कूल का कोई भी छात्र बँधा हुआ नही था। लछमियाँ को पंडितजी ने सुभीते-पर-सुभीते देने आरम्भ किये। इसका फल बुरा ही हुआ। नम्रता यदि उसका स्वभाव होती, तो वह पंडितजी की कृतज्ञता मानता। वह था उजड्ड; और भी सिर पर चढने लगा।

अन्त मे एक दिन उसने पंडितजी पर बात खोल ही दी—"मैं तो जाता हूँ पंडितजी !"

"कहाँ ?"

"बढ चलने जाता हूँ ।"

"क्या यहाँ हम नहीं बढ रहे है साथ-ही-साथ ?"

"कहाँ बढ रहे हैं ? तकली तकुए पर घूमती है और हम स्कूल के चारो ओर घूमकर फिर वहीं पर आ जाते है । यह बढना हुआ ? यह हुआ चक्कर—भाग्य का चक्कर । तेली के बैल नही हुए, हम ही हुए ।"

"कला के प्रकाश से हम तुम्हारे मन के भीतर उजाला कर रहे हैं यहाँ ।"

"मैं अँधेरे ही मे खरा हूँ । दिन-भर परिश्रम कराते है आप और खाने-पीने की पट है यहाँ । कुछ माहवारी देने-लेने का नाम नहीं, उलटा सिर पर यह थापते हैं कि स्कूल मे कोई फीस नहीं ली जाती है ।"

"यदि चित्रांकन मे तुम्हारा मन न लगे, तो कोई दूसरा काम कर लेना तुम उस समय ।"

"अच्छा उस समय मैं ढोलक बजा लिया करूँगा ।"

पंडितजी ने कुछ सोचा, फिर बोले—"बजा लेना ।"

"नहीं, मैं तो हारमोनियम बजाऊँगा ।"

"वह तुम्हे आता कहाँ है ?"

"सीख लूँगा ।"

"बजा लेना । लेकिन धोकनी जल्दी-जल्दी चलाओगे तो वह बिगड जायगा ।"

"नहीं, क्यों बिगाडूँगा ।"

लछमियाँ को हारमोनियम बजाने की आज्ञा दे दी गई । शाम को छुट्टी होने पर जब सब लडके अपने-अपने घरों को चले गए और पडितजी भी स्कूल मे ताला देकर अपने निवास को पधारे तो लछमियाँ

निकट ही कहीं छिप गया था। फिर स्कूल में आ गया।

तब वह बाहर स्कूल की दीवार पर बने हुए रेल के चित्र को खुरचकर मिटाने लगा।

"सरासर झूठ! भीतर तकली चलवाकर बाहर रेल का चित्र बनाया इन्होंने। कहाँ चल रहा है यह चित्र! लछमियाँ को नहीं ठग सकता कोई। मैं इसकी पूरी सूरत बिगाडकर ही चैन लूँगा।"

उसने पत्थर से दीवार खुरच-खुरचकर रेल अदृश्य कर दी वहाँ से। वह कह रहा था मन में—"चित्र! क्या होता है चित्र से? कहते हैं—आम बनाओ, अनार बनाओ, लड्डू बनाओ, पेड़े बनाओ। होता क्या है उनसे? पेट भरता है क्या? मन मे ही चख लो! बस, मन में ही चख लिया। लछमियां ने तो मन मे ही चित्रांकन भी कर डाला। छुडा लिया उसने अपना पिण्ड। आज तो चित्रांकन किया ही नहीं गया। कल को ठाठ से हारमोनियम बजाऊँगा। पंडितजी कहते तो हैं हम किसी को डराते-धमकाते नहीं, परन्तु वह जो धोंकनी को धीरे-धीरे चलाने की बात है, वह क्या धमकी नहीं?"

कुछ ही देर मे लछमियाँ ने रेल के सारे रंग खुरचकर मिटा दिए। वह दौडकर मोटर के चित्र पर आया—"यह भी तो, यह मोटर भी तो उसी की भाई-बन्द है।"

मोटर के चित्र को मिटाकर उसने हाथों की सफाई दिखाई। दीवारों पर जो आदर्श और स्वागत के वाक्य हिन्दी में लिखे हुए थे, वे उसकी पहुँच के बहुत ऊपर थे। नीचे भी होते तो कदाचित् वह उनको छेडता नहीं, क्योंकि अभी साक्षरता प्रयोग मे सम्मिलित नहीं हुई थी।

यदि लछमियाँ को अक्षर-ज्ञान हो गया होता तो कदाचित् वह स्कूल के उस आदर्श वाक्य 'आगे बढो' को सबसे पहले मिटा डालता।

किसान-बालक स्कूल के लिए लेकर कृषि का उद्यम सम्मिलित नहीं किया था पंडितजी ने अभी वहाँ। इसके कुछ कारण थे। सबसे मुख्य

था स्कूल के चारो ओर एक दीवार का निर्माण। ग्राम-मण्डल के पशुओं से उसे बचाना आवश्यक था। उसके लिए आवश्यक थी अच्छी धनराशि। हाल ही मे सरकार ने एक अतिरिक्त स्वीकृति देकर स्कूल के चारो ओर दीवार बना दी थी और पंडितजी शीघ्र ही वहाँ कृषि और गोपालन के उद्यम आरम्भ करने जा रहे थे। विद्यार्थियो ने कुछ खुदाई भी चला दी थी।

लछमियाँ बडे भारी पराक्रम की सिद्धि मे, विजय के दर्प से सिर ऊँचा करता हुआ घर को लौट चला। मार्ग मे उन नवीन खेतो को देखकर कहने लगा—"यह खेती होगी अब यहाँ? स्कूल से मतलब क्या है खेती का? यदि खेत पर ही मेहनत करनी होगी, तो क्या घर पर नही है मेरे खेती! घर की खेती से बचने यहाँ आया, यहाँ भी खेती!"

गूलर के पेड मे एक कौआ चिल्ला उठा। लछमियाँ ने भूमि पर से एक पत्थर उठाकर उस पक्षी पर फेंका। स्कूल की दीवार पर उसकी दृष्टि गई—"है! यह हवाई जहाज का चित्र तो रह ही गया!"

चित्र कुछ ऊँचे पर था। वह ऊँचा होने के लिए एक टूटा हुआ घासलेट का टीन उठा लाया और उसपर चढ़ एक लकड़ी से चित्र को खुरचने लगा। अचानक उसने स्कूल की बाईं ओर से किसी की उस ओर बढती हुई आहट सुनी। लछमियाँ कूदकर भागा दाहनी ओर को और दीवार फाँदकर दौड गया जंगल की ओर।

पंडितजी कोई आवश्यक पुस्तक भूल गए थे स्कूल मे ही, उसे लेने आ रहे थे। दीवारो पर के ध्वंस ने उनकी दृष्टि खींची और ओट मे भागते हुए लछमियाँ की पद-ध्वनि ने उनकी श्रुति। कानो की ओर ही दौड पड़े वह। लछमियाँ उस समय दीवार फाँदकर पेडो मे छिप चला था।

फिर भी पंडितजी की क्षिप्रता ने उसकी परछाईं पहचान ली। उन्होने पुकारा—"लछमियाँ!"

कुछ उत्तर नही मिला उन्हे ।

"तुमने कोई भी अपराध नही किया है और मैं अपने पास कोई दंड नही रखता । आओ ! बात तो सुनो !"

लछमियाँ ने ओट से पंडितजी की यह बात सुनी, परन्तु वह लौटा नही; भागकर अपने ग्राम के पथ पर चला गया ।

पंडितजी ने दीवार पर चढकर पुकारा—"लछमियाँ !"

चीड के पेडो की सुवासित सरसराहट मे पंडितजी की पुकार डूब गई ।

लछमियाँ गाँव की ओर गाता हुआ जा रहा था—"बढ चलो, बढ चलो !"

तीन

घर जाकर लछमियाँ ने वेग से पाटी पटक दी भूमि पर, पिता के सामने, आँगन के पत्थरों की पटाल पर। पिता गुडगुडी पीते हुए अपने एक सहवासी से बातों में संलग्न थे। उन्होंने देख-सुनकर भी लछमियाँ की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। पुत्र के स्वभाव में ही उजड्डुता थी।

पुत्र पिता की इस उपेक्षा पर चिढ उठा। उसने फिर पाटी उठाई और इस बार दूनी शक्ति से भूमि पर दे पटकी।

गुडगुडी का तम्बाकू सोख चुके थे वे दोनों। शेष धुँआ छोडकर पिता ने उसे दीवार के सहारे रख दिया और बड़े संयम के साथ बोले, "क्यों बेटा, क्या बात है?"

"बस हो गया! अब कल से आप मुझसे कभी स्कूल जाने को न कहें।"

"क्यों? क्यों? क्या हो गया?"

"हुआ कुछ नहीं। बस कह दिया मैंने, नहीं जाऊँगा।"

"पंडितजी ने कुछ कहा? किसी लडके से झगडा हुआ?"

"नहीं।"

"फिर?"

"किसी ने मारा तुम्हें?"

"मार कौन सकता है लछमियाँ को? बात यह है पिताजी, जिस काम के लिए आपने मुझे भेजा है, वह तो कुछ होने वाला नहीं है वहाँ।"

सहवास ने पाटी उठाकर लछमियाँ को देते हुए कहा—"लो सँभालो इसे। इसमें विद्या लिखी जाती है, इसका अनादर नहीं किया जाता। स्कूल क्यों नहीं जाओगे ? सभी बालक जाते हैं वहाँ।"

"कुछ पढ़ाई-लिखाई नहीं होती वहाँ। धित-धिन, ता-धिन; छुम छुम, छुछु-छुम, बस यही सिखाते हैं, यही हुई क्या पढ़ाई-लिखाई ?" लछमियाँ ने नाच की भ्रूभंगी और ठुमका लगा कमर पर हाथ रखकर कहा।

सहवासी हँसने लगा। लछमियाँ के पाटी न लेने पर उसने उसे उठाकर दीवार पर रख दिया और जाते हुए कहने लगा—"यही कह दूँगा मै फिर उनसे जाकर।" वह चला गया।

पडौसी के जाने पर लछमियाँ के पिता बेटे की बात पर पूरा-पूरा ध्यान देने को तैयार हो गए—"हाँ बेटा !"

"झूठे ही मेरा नाम लगा रहे हैं पंडितजी।"

"पंडितजी तो बडे अच्छे आदमी हैं। न मारते है कभी, न किसी को धमकाते हैं। क्या नाम लगा रहे है तुम्हारा ?"

"कहते हैं, मैने स्कूल की दीवारो के चित्र मिटा दिए ?"

"मिटाए हैं तुमने ?"

"नहीं पिताजी, मुझे झूठ बोलने से मतलब ?"

"जब जिससे कोई भय नहीं है, तो उससे तो झूठ कभी बोलना ही न चाहिए।"

"कल से मैं स्कूल नहीं जाऊँगा।"

लछमियाँ नित्य ही ऐसी बक-झक लगाया करता था। पिता उठकर जाने लगे—"कल-की-कल ही देखी जायगी बेटा, अभी तो दो जून को रोटी पड़ी है बीच मे। चल थोडी-सी खाद फेंकनी है खेतो मे। चलेगा ?"

"स्कूल से हारा-थका तो मै चला आ रहा हूँ। आपको खाद की सूझी है।"

पिता के पीठ करते ही लछमियाँ ने गुडगुडी उठाई। चिलम पर हाथ रक्खा, ठंडी हो गई थी। फूँक मार-मारकर कहीं किसी चिनगारी की ढूँढ की; कोई भी न मिली। घर के भीतर जाने लगा। द्वार पर ताला देकर माता भी अन्यत्र चली गई थी। उसका जी चाहा हाथ की गुडगुडी को पत्थर पर पटककर चूर-चूर कर दे। उसकी दृष्टि दीवार पर रक्खी गई पाटी पर पडी।

गुडगुड़ी सँभालकर रख दी। पास पडी हुई कुल्हाडी उठा ली और पाटी के छोटे-छोटे टुकडे कर रख दिए। कुछ सूखी घास उठा लाया और पाटी के टुकडों पर रख जेब से दियासलाई की डिबिया निकाल अग्नि प्रज्वलित कर दी।

पाटी को लपटों में जलता हुआ देखकर कहने लगा—"पाटी बगल में देकर आते-जाते रास्तों में हमारी विद्यार्थी की-सी सूरत बनाई है और सिखाते है वहाँ उछल-कूद और ऊधम! न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।" उसने जेब से कलम निकाल उसको भी बीच से चीरकर फेंक दिया।

आग में कोयले पड गए थे। वह उठा, दौडकर पडौस में कहीं से पिता के नाम पर एक चिलम तमाखू माँग लाया और गुडगुड़ी भरकर गुड़गुडाने लगा। हठात् उसे कुछ याद आई और उसने पाटी के कोयले उठाकर ओट में फेंक दिए। पैर से भूमि पर की राख इधर-उधर कर उस पर घास के तिनके डाल दिए।

वह दीवार पर बैठकर तमाखू पीने लगा। मन में कहता जा रहा था—"तमाखू तो नहीं सिगरेट अवश्य पीते हैं पंडितजी, लेकिन हमसे छिपाकर; और लछमियाँ, वह अपने पिता के सामने भी ठाठ से गुड़-गुडाता है। जो कुछ भी हो, एक बवाल से तो छूटा कल से। बढ़ना ही होगा तो मोटरगाडी की सड़क पर न बढ़ता चलूँगा नित्य आगे-ही-आगे। यहाँ तो स्कूल से छूटे घर, घर से गिरे स्कूल। पंडितजी

इसको 'बढना' कहते हैं और हमारे भोले-भाले पिताजी 'पढ़ना' !" वह ठहाका मारकर हँसा ।

पनचक्की से एक थैली मे आटा पिसवाकर सिर पर रखे हुए उसकी माता चली आ रही थी । लछमियाँ की उस मार्ग पर पीठ थी । माता ने निकट आकर पूछा—"लछमियाँ, आगया तू ? किससे हँस रहा था ।"

"हमारे पंडितजी कहते है आधी दुनिया बाहर है और आधी भीतर । मै उसी भीतर की दुनिया से बातचीत कर रहा था ।"

पंडितजी का नाम जुड जाने से माता के कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी, कुछ विश्रान्त भी थी वह । थैला सिर पर से चबूतरे पर उतारकर बैठ गई प्रवेश-द्वार की सीढियों पर । लछमियाँ उसके सामने आकर गुड़गुडाने लगा ।

"वहाँ क्या आदमी भी रहते हैं ?"

"हाँ, क्यो नहीं ? सफेद भी और रंगीन भी, दोनो तरह के ।"

"बकता है तू !"

"मै बकता हूँ या पंडितजी ? आँख मूँदकर पंडितजी की बात तो कभी मानी नहीं मैने । एक बात पूछता हूँ माँ ! यदि हमारे भीतर कोई संसार नही है, तो जब हम सपना देखते हैं तो वहाँ समुद्र-पहाड-रेल-मोटर, पुरुष-स्त्री, बाघ-भालू, भूत-प्रेत यह सब कहाँ से आ जाते हैं ?"

"अधिक पागलपन मत कर । फेंक, चिलम फेंक ! यही सीखता है तू स्कूल मे ?"

"पिताजी तो कुछ कहते नही हैं मुझसे । तुम यों ही डाँटने लगती हो । जरा दिमाग की थकान मिटा लेता हूँ । पेट मे थोड़े जाता है कुछ जो हानि पहुँचा देगा ? मुँह से खींचा नाक से निकल दिया, बस हो गया । लेकिन बुझ गए कोयले, तमाखू भी सूँघने भर को दी उसने ।" लछमियाँ ने गुडगुडी ठीक पिता की रक्खी हुई जगह पर रख दी ।

माता द्वार खोल आटे की थैली उठाकर घर के भीतर चली।

लछमियाँ ने उसका अनुसरण करते हुए कहा—"चाय बना दे माँ!"

माता को कुछ याद आई। उसने भौहे तरेरकर पूछा—"तू दिया-सलाई की डिबिया ले गया?"

"कहाँ? कब? माँ!" लछमियाँ ने जेबो मे हाथ डालकर कहा—"तुम देख लो मेरी दोनों जेबें।" जिस जेब में उसके डिबिया न थी, उसे उलटकर भी दिखा दिया उसने।

"फिर कौन ले गया?"

"मै क्या जानूँ? सिरहान देख लिया तुमने बिस्तर मे?" कहकर लछमियाँ ने बिस्तर उधेड डाला। चुपचाप जेब मे डिबिया निकाल लाया—"मिल गई माँ! तुम झूठ-मूठ मेरा ही नाम लगा देती हो। गाँव-भर मे जहाँ कुछ टूट-फूट होगी, चोरी-छिप जायगा, सबसे पहले लोगो के होठो पर होता है लछमियाँ का नाम।"

"लोगो की क्या शत्रुता है तुमसे? करतूते ही ऐसी हैं तुम्हारी," आग सुलगाती हुई माता बोली।

"ऊब उठा हूँ माँ मैं भी इस गाँव से। जी चाहता है कही को चल दूँ।"

"पढता-लिखता कुछ है नहीं। जैसा गँवार गाँव मे, वैसा मूरख शहर मे। गाँव बस गया तुझसे, अब शहर के आबाद होने की कसर है। चौका-बासन करेगा कहीं और कर ही क्या सकता है?"

"फिर क्या पढाते-लिखाते है वह? पढाना-लिखाना ही कुछ ढंग का होता, तो यह दिन आता?"

माता कुछ न समझी।

"चलो एक आफत मैंने गँवाई, तो एक झंझट तुम्हारी गई।"

आग फूँककर माता ने पूछा—"झंझट कैसी?"

"मैने स्कूल का नाम काट दिया कल से।"

"पंडितजी क्या कहेंगे ?" माता अब भी नहीं समझी।

"वह हमारे घर आकर थोड़े बुला ले गए थे मुझे। अपने मन से गया था मैं, अपने मन से ही न जाऊँगा।"

"पढ़ाई-लिखाई का हर्ज हो जायगा।"

"रत्ती-भर न होगा माँ। तुम देखती रहना। जैसी पढ़ाई-लिखाई वहाँ होती है उससे अच्छी घर ही पर कर दिखा दूँगा मैं।"

"पिताजी क्या कहेंगे ?"

"उन्हें राजी कर लिया है मैंने। खेत खुदवाने की पढ़ाई करने जा रहे हैं पंडितजी अब स्कूल में।"

"खेत खुदवाने की कैसी पढ़ाई हुई ?"

"जैसी नाच-कूद की। खेती ही खोदना होता तो क्या घर पर नहीं है हमारे मिट्टी ? यहीं क्यों न खोद लूँगा ? खेत खोदें हम और खा जायँ पंडितजी।"

माता कुछ सोच-विचार में पड़ गई। उसने चूल्हे पर चाय चढ़ा दी थी।

"मैं अपनी ही खेती में लग जाऊँगा। पिता का और तुम्हारा हाथ बटाया करूँगा।"

"मन लगता जब तुम्हारा ! ऐसी ही मति होती तुम्हारी तो उस पढ़ने-लिखने से कौन कथा बाँचनी है तुम्हें ?"

"तो तुम राजी हो मेरे कल से स्कूल न जाने पर ?"

"घर का ठीक-ठीक काम करोगे तुम ?"

"काम तो करूँगा ही माँ ! आदमी कभी खाली बैठ नहीं सकता।"

"तुमने फिर वही लड़ाई-झगड़ा आरम्भ कर दिया तो फिर क्या लाभ ? तुम्हारे स्कूल जाने से पढ़ाई-लिखाई कुछ भी न हुई तो क्या टोटा है; गाँव वाले छ-सात घंटे के लिए बेखटके तो रह जाते हैं।"

"लेकिन लछमियाँ कल से स्कूल नही जायगा, नहीं जायगा, नही जायगा।"

"दूध तो है नही, बिल्ली पी गई। चाय कैसे बनेगी?"

"लोटा लाओ, कही से माँग लाऊँगा।" लोटा लेकर लछमियाँ निष्क्रान्त हुआ।

कैसी रंग-भरी चाल से चाय ग्रामो के भीतर घुँस पड़ी थी! ये पहाडो के ग्राम, दूध-दही की नदियाँ बहती थीं यहाँ। वे स्रोत कहाँ सूख गए? वह श्री कहाँ विलीन हो गई? अधिक-से-अधिक पानी मे कम-से-कम दूध मिलाकर कुछ चीनी और पत्ती के संयोग से हमने उसे यह नाम दिया है। इसने क्या हमारे स्वास्थ्य पर प्रहार नही किया है? जहाँ दूध-दही अतिथि-सत्कार का प्रमुख साधन था, वहाँ आज चाय के गिलास-पर-गिलास बढ़े चले आते है। क्या यही हमारे बढ चलने का चिह्न है? पहाड के ग्रामवासी दूध-दही का बेचना पाप समझते थे, उसमे अर्थशास्त्रीय भावना के पड जाने से ही क्या हमारी यह लक्ष्मी हमसे रूठ गई? आज औषधि के अनुपान के लिए भी दूध दुष्प्राप्य है। भगवान के चरणामृत तक भी क्या चाय दौड पडेगी?

यह विष की बेल किसने फैला दी यहाँ? क्या उन विदेशी व्यापारियो ने जिन्होने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे यहाँ चाय के बगीचे स्थापित किये थे? वे सब उजड गए; उनमें से एक भी हर-भरा नहीं है आज यहाँ। उनके बगीचे भी उजड गए; उनकी उगाई हुई चाय के पेडो की पंक्तियाँ भी टूट गईं, सूख गईं और फिर जंगलो में बदल गईं। परन्तु रस-रूप मे चाय बह चली, बढ चली।

भारत ने करवट बदली; वह आन्दोलित हुआ, जाग्रत हुआ और चारो ओर से ध्वनियाँ ऊँची हुईं—

"बढ चलें! बढ चलें!"

"बढ़ चलो! बढ़ चलो!"

और हम बढ़ चले। किधर बढ चले ? बढने की धुन मे किसको अवकाश था कि देखे हम किधर बढ रहे है !

वह नाना प्रकार की ध्वनियों का युग था। चाय के प्रचारक ने भी अपनी ध्वनि जगाई—"सबसे सस्ता और निर्दोष पेय चाय है।" उसकी ध्वनि खप गई।

रेल के स्टेशनो से देश मे और मोटर के स्टेशनो से यह पहाड़ मे फैलने लगी। विदेशी शासको के बसाये हुए सैन्य-निवास और ग्रीष्म-निवासो ने इसे आश्रय दिया। भारत की बडी-बडी कनक नगरियो के होटलो से इसने अपना मोहक मन्त्र-जाल फेंका।

आन्दोलनो के साथ-साथ चाय का प्रचारक भी ग्रामो की ओर चला। उसने ग्रामीण पृष्ठभूमि पर गाँववालो के चित्र बनाये और उन्हे चाय पीता हुआ दिखाया। उसने हर 'वखत, चाय का वखत,' प्रचारित कर दिन तथा रात का मेल मिलाया और 'चाय गरमियो मे ठंडक और जाडों मे गरम रखती है,' कहकर वर्ष के दोनो सिरे जोड दिए। उसने बच्चे से बूढ़े तक को जीत लिया तथा उसने ग्राम और नगर दोनो को सयुक्त कर दिया।

प्रचारक ने मुडनेवाली मेज कुरसियाँ, गैस का चूल्हा, एल्यूमीनियम के बर्तन, चाय के बंडल और दूध-चीनी साथ लेकर यातायात के नाके घेर लिये। 'धरतीमाता का अमृत मुफ्त मे पी लो,' की ध्वनि जगाकर उसने जानेवालो को आकृष्ट किया। ग्रामोफोन मे सिनेमा की 'वफाई और बेवफाई' के गानो के तवे बजाने आरम्भ किये। लोगो ने फोकट मे कई दिनो तक उस अमृत का पान किया। कुछ दिन बाद प्रचारक ने पैसे-पैसे की पुड़ियां उनके हाथ उनके घर भेजने का क्रम बांध दिया। जब जनता मे अमल अंकुरित हो गया था, तो वह फोकट की पिलाने वाला आँखो से ओझल हो गया था। लेकिन पत्ती पीनेवालो के चूल्हों तक पहुँच चुकी थी और आगे वह कहाँ मिलेगी इसका भी पता छोड गया था वह 'दिल खुश करने वाला' प्रचारक।

चाय अकेली ही नही घुसी हमारे ग्रामो के भीतर, वह अपने साथ के लिए बिस्कुट और डबलरोटी को भी खीच लाई। वे बासी, सूखे और रूखे बिस्कुट ! वे बीमारियो के प्रसारक, मैले-कुचैले हाथो से स्थानांतरित होते हुए किसान की चाय मे डुबकी लगाने लगे और उसके पेट मे जाने लगे। उन डबलरोटियो के टुकडो पर हमारे जीवन का उच्च स्तर स्थापित हुआ, उन्होने हमारे विकास की सूचना दी और वे हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक बने।

किसान ने अन्न उपजाया और वे सांचो मे ढले और कटे बिस्कुट नगरो से बनकर उसके लिए चले। क्या यह उसी बात की पुनरावृत्ति नहीं हुई कि रुई हमने उत्पन्न की और लज्जा हमारी ढकी मानचेस्टर ने। वस्त्र मनुष्य को बाहरी दिखावा देता है, क्या भोजन उसकी भीतरी रचना नही करता—उसकी शारीरिकता की और अवश्य ही उसके विचारो की भी ?

लोटा लेकर लछमियाँ चला दूध की खोज मे। घर के बाहर आया आँगन की दीवार मे चढकर उसने चारो ओर दृष्टि फेकी। एक पडौसी की गाय चर रही थी दूर खेतो पर। वह आँख बचाता हुआ उसके निकट जा पहुँचा।

उसके अपनी भी गायें थीं, कुछ देर मे आ ही पहुँचतीं वह। पर चाय पीने के लिए उसे जल्दी थी। पडौस मे मांगने मे भी उसे सहज ही दूध मिल सकता था। परन्तु चोरी की मिठास मुँह लग जाने पर वैसी माधुरी और कहाँ मिल सकती है ?

लछमियाँ ने गाय के थन के नीचे लोटा रख ज्योही उस पर हाथ रक्खा, त्योही गाय पैर चलाने लगी। लछमियाँ ने पास ही पडी हुई एक रस्सी का टुकडा लेकर उसके दोनो पिछले पैरो मे गाँठ बाँध दी और बेधडक होकर लोटा भर लिया। रस्सी खोलकर वह चलता बना।

घर के निकट पहुँचकर उसने लोटे को देखा, दो-चार ही अंगुल

खाली था वह। उसने मन में कहा—"माँगने पर इतना दूध चाय के लिए कौन दे देगा?"

उसने लोटे का आधा दूध घटक लिया। मुँह पोछ ही रहा था कि पीछे से पिताजी ने आकर उसका हाथ पकड लिया।

"क्या पी रहे हो बेटा!"

"खिमका के यहाँ से चाय के लिए दूध माँग लाया हूँ। दूध की रंगत देखकर कुछ संदेह हो गया था, इसी से चख लिया।"

"जूठा कर दिया। अपना जूठा हमें भी खिलाओगे बेटा?"

"जूठा नहीं किया। ओख से पिया। और जो खट्टे बासी दूध से सारी चाय फट जाती तो?"

"बेटा, जब हम तुम्हारी आयु के थे, तो हमने कभी चाय का नाम भी नही सुना था।"

दोनो घर के भीतर प्रवेश करने लगे।

लछमियाँ कहने लगा—"आपने क्या सुना और क्या देखा? घर से खेत, खेत से घर। सच कहिए पिताजी, सुस्ती की तो चाय जानी दुश्मन है। दो पैसे की प्याली है, दिल खुश करने वाली है। क्यो माँ, क्या झूठ कह रहा हूँ मै?"

अक्षर और अंक न पढाने पर भी स्कूल मे पंडितजी ने बातो-ही-बातो मे लडको की शिक्षा मे इतिहास, भूगोल, पदार्थ-विज्ञान आदि को समावेशित किया था। प्रायः सभी छात्रो का साधारण ज्ञान उनकी स्थिति और अवस्था को देखते हुए बहुत बढा-चढा था।

परन्तु लछमियाँ ने उस जानकारी मे अपना विष ही बढाया था। वह पंडितजी के सौम्य व्यवहार को उनकी दुर्बलता समझता। उन्होने कक्षा मे जिस दण्डविहीन शासन की व्यवस्था की थी, उस अभय मंत्र मे लछमियाँ की चौर-वृत्ति की ही पुष्टि हुई।

पंडितजी लछमियाँ के अवगुणो में निरन्तर प्रकाश की भावना ही उपजाते थे। उसकी सूझ-बूझ को जानते और मानते थे वह। उन्होंने

कभी एक क्षण के लिए भी उसे अपने स्कूल का कलंक नहीं समझा। लछमियाँ उनके स्कूल मे एक अशुद्ध आदर्श है, उसके वातावरण को मलिन करता है—यह विचार मे भी नहीं आया उनके। उन्होंने कभी नहीं चाहा कि वह उनके स्कूल से चला जाय।

दूसरे दिन लछमियाँ सचमुच स्कूल को नहीं गया। उसके माता-पिता उसे समझाकर हार गए, लेकिन वह टस-से-मस नही हुआ।

पहले पंडितजी ने समझा, किसी कारणवश देर हो गई होगी, आता ही होगा। धीरे-धीरे स्कूल के छूटने का समय हो गया और लछमियाँ का कोई समाचार नहीं मिला।

स्कूल बन्द कर पंडितजी सोचने लगे—"कल इन दीवारों को बिगाडते हुए मैंने उसे पकड पाया, कदाचित् इसी से उसके लज्जा उत्पन्न हो गई है। चित्र बिगाड दिए उसने, कोई बात नहीं है, वे फिर बन जायँगे। परन्तु मनुष्य का वह उगता हुआ पुतला, वह न बिगडना चाहिए। मै जाकर कह आता हूं उससे कि उसका कोई अपराध नही है। एक अपराध की कल्पना कर उसका स्कूल को छोड देना उसके जीवन की कदाचित् विषम घटना हो जायगी और उसे ठीक-ठीक मार्ग-निर्देश न मिल सकेगा।"

पंडितजी सीधे लछमियाँ के गाँव की ओर चले। उस दिन लछमियाँ दिनभर माता-पिता के साथ ही काम करता रहा। वे दोनों सोचने लगे—"यदि ऐसी ही मति स्थिर रह गई पुत्र की तो फिर घर ही मे इसका सर्वोत्तम उपयोग नहीं है क्या ?"

संध्या-समय जब वह गाँव के एक कुत्ते की पूँछ मे एक टूटा हुआ टीन बाँधकर अनेक बालकों के साथ उस बाजे का आनन्द ले रहा था, उसके पिता ने पुकारा—"लछमियाँ ! लछमियाँ !"

लछमियाँ ने देखा उसके घर के मार्ग पर पंडितजी चले आ रहे थे। पिता दूर ही से उन्हें आते देखकर बिछाने के लिए कम्बल लेने दौड़

गए थे घर के भीतर। लछमियाँ भागकर छिप गया निकट ही एक गौशाला मे।

कम्बल झाड उसे चार तहो मे सकुचित कर बिछा दिया था पिता ने चबूतरे पर, पंडितजी के आने से पहले ही। उन्होने आँगन के प्रवेश पर दोनो हाथ जोड बड़े भक्ति-भाव से प्रणाम किया पडितजी को।

पंडितजी ने अभिवादन का उत्तर देकर कहा—"अच्छे तो हैं आप? लछमियाँ कहाँ है?"

"लछमियाँ! लछमियाँ!" फिर पुकारा पिता ने।

गौशाला के भीतर एक गाय का खूँटा उखाडते हुए लछमियाँ अपने मन मे कहने लगा—"अगर इस पडित ने पिताजी से कोई मेरी शिकायत की तो सिर साबत न ले जाने पायगा यह यहाँ से आज। इसी खूँटे से मरम्मत कर दूँगा इसकी।" वह बहुत जोर लगाकर भी न उखाड सका उस खूँटे को। एक पत्थर से ठोक-ठोककर उसे हिलाने लगा।

फिर उसके पिता की पुकार गूँज उठी उस गौशाला मे—"लछमियाँ! लछमियाँ!"

पुकार का कोई उत्तर न देकर लछमियाँ गौशाला के अँधेरे कोने मे सिमट गया।

"खेल रहा होगा महाराज, कही। अभी आ जायगा। आप विराजिए। फटा कम्बल मिला घर मे। क्या सेवा कर सकते हैं हम गरीब आदमी?" दोनों हाथ जोड़ दिए फिर पिता ने—"केवल हाथ जोड सकते हैं आपको, कैसे कष्ट किया?"

पंतिजी ने कम्बल को बीच से खोलकर लम्बा बिछा दिया चबूतरेड पर—"आप भी बैठिए।"

"आपके साथ एक आसन पर बैठना शोभा नहीं देता मुझे।"

"यह एक झूठी श्रेष्ठता और झूठी ही नम्रता है।"

पंडितजी के आग्रह को जब किसी प्रकार वह किसान न माना तो

उन्हें हारकर उस कम्बल पर बैठना ही पड़ा।

"दूध गरम कर लाता हूँ आपके लिए।"

"नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।"

पिता को स्मरण हुआ, दूध है भी तो नहीं बचा हुआ घर में। वह बोला—"तब चाय बना लाता हूँ।" उन्होंने फिर पुकारा—"लछमियाँ! लछमियाँ!"

फिर उनकी पुकार शून्यगामिनी हो गई। लछमियाँ के तीन साथी लड़के उसके गौशाला में छिप जाने के रहस्य को अपने अधरों पर की मीठी मुस्कान से ढककर आँगन के एक कोने में खड़े हो गए।

"धन का भी अभाव है महाराज, और मेरे पास आपसे बोलने योग्य भाषा भी नहीं है।"

"ये सब जीवन की बनावटें हैं। इन्होंने हमें जटिलता दी है। इनसे परदा पड़ गया है और हमें अपने स्वरूप का सहज ज्ञान दुर्लभ हो गया है।" पंडितजी ने कहा।

क्या जाने कहाँ तक वह सीधा-सादा किसान पंडितजी की बातों को समझा। उसने उत्तर दिया—"आप ज्ञानी हैं महाराज! हम लोगों का सौभाग्य है जो आप हमारे बीच में आये हैं। कितना ही सोचता हूँ आपके निकट आकर आपके सत्संग में कुछ ज्ञान की बातें सुनूँ। पर क्या करूँ खेती-पाती और गाय-बैलों के बीच में ऐसा उलझ जाता हूँ, पानी पीने का भी अवकाश नहीं मिलता।"

"ज्ञान ऐसी ढूँढ़ने योग्य कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है। वह मनुष्य के लिए जितनी उपयोगी है, उसे हवा और पानी की भाँति उतना ही सहज प्राप्य होना चाहिए। मैं कहता हूँ जितना ही नगर की ओर बढ़ोगे बनावट में उतने ही घिर जाओगे और जितने ग्राम के निकट चलोगे उतनी ही स्वाभाविकता तुम्हारा स्वागत करेगी।"

"धन्य हो पंडितजी, आपके बिना और कौन हमें ऐसे ज्ञान की बात सुनाता। तमाखू भर लाऊँ महाराज?"

"नही, तमाखू नही पीता ।"

"बीड़ी ले आता हूँ ।"

"नहीं, उसकी भी कोई आवश्यकता नही है ।"

"पंडितजी, क्या वेतन मिलता है आपको स्कूल मे ?"

"केवल भरण-पोषण का लेता हूँ ।"

"बस ! जमा करने को ?"

"पैसा जमा करने से लोकोपकार जमा करना श्रेष्ठ है ।"

"धन्य हो पंडितजी, तभी तो मै कहता रहता हूँ, आपके आ जाने से हमारे सारे गाँव मे उजाला हो गया । बाल-बच्चे कितने हैं आपके ?"

"कोई नही है," पंडित ने अपनी निराशा संभालकर उत्तर दिया ।

"तभी तो । स्त्री ?"

"स्त्री भी नही है ।"

"विवाह नही किया ?"

"स्त्री मर गई ।"

किसान ने समवेदना के स्वर ऊँचे किये—"राम, राम ! फिर दूसरा विवाह क्यों नही किया आपने ? अभी तो पहले ही विवाह के योग्य अवस्था है आपकी । फिर सन्तान भी तो कोई नहीं ।"

"क्या रक्खा है विवाह मे ?"

"माता-पिता है ?"

"हाँ घर ही पर, नगर मे ।"

"और आपने ग्राम की ओर पैर बढा दिए । मैने सुना है आप बहुत पढे-लिखे है । नगर में क्यो कोई नौकरी नही मिली आपको ?"

"मैने छोड दी ।"

किसान के मन में भ्रम उपज गया । वह सोचने लगा—"नौकरी छोड़ दी नगर की ? विवाह भी नहीं किया । तीस-पैंतीस की अवस्था

है इनकी, कोई-न-कोई बात अवश्य है।" उसने फिर पूछा—"और भाई-बहन भी होंगे ?"

"हाँ, क्यों नहीं ?"

"माता-पिता के लिए तो ठीक ही है, परन्तु आपके लिए ?"

"मेरे लिए क्या बुरा है ?"

"इतनी छोटी अवस्था में क्यों हो गया आपको वैराग्य ?"

पंडितजी ने अधूरी हँसी में कहा—"कहां हो गया वैराग्य ? मैं तो वैराग्य को मनुष्य की निष्क्रियता समझता हूँ। जब तक जीवन है, कर्म छूट नहीं सकता तब तक। जितना ही कर्म को छोड़ भागते हैं हम, उतना ही वह हमारा पीछा करता है।"

"फिर नगर छोड़कर आपका यहाँ आने से मतलब ?"

"नगर छोड़ा कहां है ? छुट्टियों में घर जाता ही हूँ।"

"लेकिन एक बात मान लीजिए पंडितजी, विवाह कर ही लीजिए। जब संसार के जेल में है आप, तो बेडी भी पहननी ही चाहिए। खाने-पीने का क्या प्रबन्ध है ?"

"अपने ही हाथ से कर लेता हूँ।"

"नहीं, नहीं, यह भी कोई बात हुई ? दिन-भर दिमाग का काम और प्रभात-संध्या चूल्हा फूँकना। चूल्हा-चौका कौन करता है ?"

"सब अपने ही हाथ से।"

"किसी के हाथ का खाने में कुछ विचार है, तो चौके-बासन में भी क्या छूत-छात है ? नहीं, मैं लछमियाँ को दोनों जून आपके यहाँ भेज दूँगा। वह सब कर दिया करेगा।"

"किसी विशेष नियम-पालन के लक्ष्य पर ही अपना काम स्वयं करता हूँ। छुआ-छूत का कोई मतलब नहीं है।"

"जब छुआ-छूत नहीं मानते हैं तो फिर नियम की पालना कैसी ? मैं भेज दूँगा लछमियाँ को, कैसे नहीं जायगा वह ?"

"लछमियाँ है कहाँ ? जिन बालकों की शिक्षा से उन्हें आगे बढ़ाने

का भार सिर पर लिया है उनसे अपनी सेवा कराना मेरे नैतिक पतन का साक्षी होगी।"

"वाह महाराज, गुरु की सेवा, यह तो सनातन काल से चली आई है। आपकी सेवा कर तो उसे लाभ ही पहुँचेगा।"

"लछमियाँ है कहाँ?"

"कहाँ है लछमियाँ?" किसान ने निकट खड़े हुए छोटे-छोटे बालको से पूछा।

वे आपस में एक-दूसरे को देखने लगे। किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

पंडितजी बोले—"आज वह स्कूल नहीं आया। क्या कारण है? अस्वस्थ तो नही हो गया था?"

"नहीं तो!"

"फिर क्यों? पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ। उसकी एक दिन की भी अनुपस्थिति नहीं है।"

"उसका स्कूल जाना मेरे लिए अचरज की बात है,, न जाना बिलकुल नहीं।"

"क्या बात हो गई फिर? क्यों नहीं आया वह?"

"भली चलाई उसकी। कल को मैं कान पकड़कर ले आऊँगा, पहुँचा जाऊँगा।"

"नहीं, नहीं, बरजोरी करने की आवश्यकता नहीं है। फिर स्कूल क्या, वह तो उसके लिए कारागार हो गया। जब मन ही उसका साथ न देगा तो आपके साथ से क्या होगा? ऐसी दशा में वह क्या सीखेगा वहाँ?"

"लेकिन मैं तो समझता हूँ अब उसका मन···" कहते-कहते लछमियाँ के पिता ने बात की दिशा उलट दी—"मैं बुला लाता हूँ उसे महाराज, आप स्वयं उससे पूछ लीजिए।" पास खड़े बालकों में से एक से बोले वह—"लछमियाँ कहाँ है?"

उसने सिर हिला दिया; दूसरा हँस पड़ा; तीसरा दूसरे के कान में कुछ कहने लगा।

पिता आँगन से बाहर को चले। लड़कों ने उनका अनुसरण किया। जब इधर-उधर कहीं न दिखाई दिया तो उन्होंने फिर लड़कों से पूछा—"कहाँ है ?"

एक ने गौशाला की ओर उँगली दिखाई। पिता की आहट पाकर लछमियाँ गौशाला से निकल भागा। पिता ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया—"बड़ी देर से पंडितजी आकर बैठे हैं बेटा, बड़े अच्छे आदमी हैं। तुम्हें बुला रहे हैं।"

लछमियाँ कुछ रोने के स्वर में बोला—"लेकिन मैंने कहाँ उनकी दीवारें बिगाड़ी हैं ?"

"कौनसी दीवारें ?"

"उनके स्कूल की और कौन ?"

"ऐसा तो कुछ नहीं कहा है उन्होंने।"

"झूठे हैं। हाथ छोड़ दो, तो चलूँगा।" लछमियाँ ने हाथ छुड़ा लिया और रोष में भरा आँगन की ओर दौड़ गया। पंडितजी को देखते ही दूर से चिल्ला उठा—"मैंने नहीं बिगाड़ी हैं आपकी दीवारें।"

पंडितजी कम्बल पर से उठकर कहने लगे—"मैंने कब यह कहा लछमियाँ ?"

"लेकिन मैं पहचानता हूँ तुम्हारा मतलब।"

"नहीं, दीवारें किसी ने भी नहीं बिगाड़ी हैं। वे चित्र पुराने पड़ जाने से स्वयं ही बिगड़ गए। मैं उनके स्थान पर दूसरे चित्र बनाने के लिए उनको मिटाना ही चाहता था।" पंडितजी ने अपनी सहज सौम्यता के साथ कहा।

"कौन चित्र बनाएँगे आप उनकी जगह पर ?"

"जो भी कहो तुम, वही।"

"चित्र एक धोखा है !"

"कैसा धोखा ?"

"वह चलता नहीं है। आपने मोटर का चित्र बना दिया। चला वह कभी ? बरस बीत गया और वह जहाँ-का-तहाँ! क्या बढ़ चले हम ? उसके स्थान पर आदमी ही बना दें तो वही किस काम का ? खड़ा रहेगा एक सिल की भाँति जहाँ बना दिया जायगा।"

पंडितजी कहने लगे—"तुमने जो मन का भाव इस प्रकार स्पष्ट कह दिया, वह तुम्हारी उज्ज्वलता है, और झूठी हाँ-में-हाँ मिला देने की नम्रता से कहीं बढ़कर है। चित्र सचमुच एक वास्तविकता नही है। उसमें जो मोटाई है वह एक कल्पना है। अच्छा हम प्रतिमूर्तियाँ बनाएँगे।"

"मोटर की प्रतिमूर्ति बनाएँगे, चल सकेगी वह ?"

पंडितजी चुपचाप सोचने लगे—"नही चल सकेगी वह।" उनके यथार्थवाद का बहुत दिन से ऊँचा किया हुआ स्तम्भ लछमियाँ के एक छोटे-से तर्क से भूपतित हो गया। वह बोले—"अच्छा नहीं बनाएँगे कुछ भी।"

"फिर सच्ची मोटर लाएँगे ?"

"सच्ची मोटर कहाँ से लाएँगे ?"

"फिर आगे कैसे बढ़ेंगे ? पैदल ही क्या ? पैदल भी तो बढ़ा जा सकता है, यदि आप उस स्कूल की परिक्रमा छोड़कर सीधी सड़क पर चलें तो।"

"अच्छा यही कुछ सोचेंगे। कल को स्कूल आना।"

"फिर स्कूल की क्या आवश्यकता है ? नहीं आऊँगा मैं, उसके चारों ओर चक्कर काटने के लिए। वह भी क्या आगे बढ़ना है ?"

पिता कहने लगे—"जायगा बेटा, क्यों नही जायगा।"

"सौ बात की एक बात कह दी। नहीं जाऊँगा पिताजी।"—लछमियाँ ने हठपूर्वक उत्तर दिया।

पंडितजी निराश होकर लौट गए और लछमियाँ फिर स्कूल नहीं गया।

चार

. . . .

लछमियाँ फिर स्कूल नहीं गया। कोई हिला नही सकता था उसको उसकी हठ से और पंडितजी किसी के ऊपर बलपूर्वक अपनी मनोवृत्ति लाद देना भी नहीं चाहते थे। लछमियाँ ने स्कूल को अपने बढ चलने की बाधा समझा और उसका परित्याग कर दिया।

यह एक छोटी-सी घटना पंडितजी के मन मे गहरा चिह्न बनाने लगी। तीस लडकों में से एक लड़के का भी चला जाना उनको दिन-रात खलने लगा। वह उसे अपनी दुर्बलता मे सम्मिलित करने लगे। स्कूल के प्रति उनका उत्साह घट चला। उनकी विचार-धारा टूट गई। आत्म-विश्वास जाता रहा। सिद्धान्त पोले प्रतीत होने लगे और वह प्रयोग एक पाखण्ड-मात्र जान पड़ने लगा।

कुछ समझ ही नहीं सके वह, क्या करें? वह स्कूल उनके जीवन का विद्रूप-सा उनकी आँखों में गडने लगा। वह मन में सोचने लगे—"बिना अपना सुधार किये यह जो लोक-सुधार की प्रेरणा मेरे मन में उदित हुई है, वह सर्वथा एक अशुद्ध वस्तु है। जब मेरा ही मन मेरे वश में नहीं है, तो कैसे मैं एक पूरी कक्षा का मन अपने हाथ मे ले सकता हूँ।"

वह सोचने लगे—"लोक-निन्दा होगी? लोक-निंदा कैसी? क्या मैं अपने उद्देश्य में मलिन हो रहा हूँ? क्या मेरा लक्ष्य स्वार्थ-सिद्धि था? एक प्रयोग ही तो मैंने हाथ में लिया था यह? वह सफल भी हो सकता था, विफल ही हो गया तो मैं क्या करूँ? मैं अधिकारियों के निकट जाकर स्पष्ट ही अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लूँगा।"

परन्तु अभी तक उनके मन मे विश्वास की एक जड़ जमी हुई थी कि लछमियाँ स्कूल लौट आयगा एक दिन, परन्तु लछमियाँ नहीं लौटा।

लछमियाँ के उपद्रव गाँव मे और भी परिपक्व तथा जटिल हो उठे। वह गाँव में चारों ओर पंडितजी के स्कूल की हँसी उड़ाता, उनकी शिक्षा-प्रणाली के प्रहसन रचता और कभी कभी रात को उनके निवास की टीन की छत पर पत्थरों की वर्षा कर उन्हें डराता।

अन्त में पंडितजी ने एक दिन स्कूल के बन्द कर दिए जाने की घोषणा कर दी। यह समाचार सुनते ही लछमियाँ दौड़ा-दौड़ा पंडित जी के पास पहुँचा। उसने बड़े भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम किया।

पंडितजी बडे असमंजस में पड गए। उन्होंने पूछा—"क्या है लछमियाँ?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही देखने आया हूँ। सुना है आपने स्कूल में छुट्टी दे दी।"

"हाँ।"

"कितने दिन की?"

"सदा-सर्वदा की।"

झूठ-मूठ आश्चर्य का भाव व्यक्त कर लछमियाँ कहने लगा—"क्यों? क्यों बन्द कर दिया? गाँव में एक अच्छी चहल-पहल हो रही थी। आपको बर्तन मलने और चूल्हा फूँकने का कष्ट था यहाँ। स्कूल बन्द न करें आप।"

"तुमने तो स्कूल आना ही छोड दिया।"

"एक मेरे न आने से ही आपको इतना बुरा न मानना चाहिए था। चौका-बासन करने आपके यहाँ आने को मैं अब भी तैयार हूँ।"

"मुझे यह स्वीकार नहीं। मैं अपने को समाज का सेवक समझता हूँ, किसी से सेवा लेनी मुझे स्वीकार नहीं।"

"वेतन दे देना कुछ महीने-महीने।"

"नही लछमियाँ।"

"यहाँ से अब आप कहाँ जायँगे ?"

"देखो।"

"अगर कही देस-परदेस बढ़ चलने का विचार हो तो मुझे साथ ले चलिए। हम एक-दूसरे की आदतों को पहचान चुके हैं। कोई कष्ट न आने दूँगा आप पर। झगड़े की जड़ तनखाह है, वह पहले ठीक-ठीक तय कर दीजिए।"

"देस-परदेस कही नही जाऊँगा।"

"फिर क्या किसी दूसरे गाँव मे स्कूल खोलिएगा ? लेकिन एक बात है पंडितजी। मुफ्त का ऐसा स्कूल न खोलिएगा। मैं कहता हूँ, यहाँ आपने लड़को से कोई फीस नहीं ली, आपके स्कूल के यहाँ न चल सकने का मुख्य कारण यही है।"

"स्कूल भी नहीं खोलूँगा कहीं और।"

"फिर दुकान खोल लीजिए नगर मे, आप बही लेकर बैठें और मैं तराजू लेकर। भारी-भारी काम सब मेरे जिम्मे। बोरियाँ रखना-सँभालना, भरना-खाली करना, तोल-ताल, छान-बीन, दौड़-धूप सब मेरी, गद्दी में बही और चाँदी सँभालने का सारा काम आपका।"

"नहीं लछमियाँ, मैं ग्रामो की ओर बढ़ चला हूँ।"

"और मै पंडितजी मै नगरो की ओर, लेकिन पंडितजी, बढ़ना तो मेरा है, आपकी चाल हो सकती है, परन्तु वह बढ़ने की नहीं पीछे हटने की है।"

"तुम्हारी बात आधी ठीक है। बढ़ना-घटना यह निर्णायक की बोली पर है। नगरवासी तुम्हारे आगमन को बढ़ना कह सकता है तो ग्राम वासी मेरे वहाँ के प्रवेश को भी 'बढ़ना' ही नाम देगा।"

"गाँव मे क्या करेंगे आप ? यह सुनसान स्थान, नाटक नही जहाँ, सिनेमा नहीं, रेल-तार नहीं, मेलों की भीड़ नहीं, होटल नही, खेल-कूद नहीं, वहाँ जाने को आप बढ़ना कहते हैं ? केवल आप ही कहते रहें,

दुनिया तो कभी नहीं कहेगी। क्या करेंगे वहाँ आप ?"

"मेरा गाँव है। खेती करूँगा वहाँ। नई वैज्ञानिक विधि से।"

"हो गया ! यहाँ नई विधि से स्कूल चलाया, वहाँ आप खेती करेंगे। क्या नई विधि होगी उसकी ? मिट्टी मे ही तो बीज बोएंगे, हवा मे जोताई कर सकें तो हम भी जानें।"

पंडितजी हँसने लगे।

"आपका कुछ सामान ले जाना होगा ? नगर को ही तो जायँगे आप ?"

"हाँ, वहीं जाऊँगा।"

"तो लाइए, कुछ मैं ले चलूँ। नगर में चलकर कहीं मेरी नौकरी ठहरा दीजिएगा।"

"क्या नौकरी कर सकोगे तुम ? पढ़ने-लिखने मे मन दिया नहीं तुमने।"

"पढ़ाया-लिखाया ही कहाँ आपने। पूरे एक वर्ष स्कूल की दौड़-धूप की तो थी मैंने। चौका-बासन करूँगा किसी के यहाँ, धीरे-धीरे ज्यो-ज्यों अनुभव होता जायगा बढ़ चलूँगा आगे। विद्या एक किताब ही की थोडे है पंडितजी, और भी अनेक विद्याएँ हैं।"

"तुम्हारे पिता की अनुमति है ?"

"पिता की क्या अनुमति ? पडितजी, परिश्रम करूँगा मैं, नौकरी होगी मेरी, वह तो चाहते ही हैं—एक वही क्या सारा गाँव चाहता है लछमियाँ जाय यहाँ से। क्या करूँ ? विवश होकर ही मुझे बढ़ना पड रहा है।"

परन्तु पंडितजी उसे अपने साथ नगर को लाने के लिए सहमत नही हुए। लछमियाँ चिढ़कर बिना उनसे विदा लिये हुए ही चला गया।

पंडितजी चले गये। उनके स्कूल में फिर वही अपर प्रायमरी स्कूल खुल गया। उस असफल प्रयोग के कुछ सफल अनुभवों को लिखकर पंडित जी ने अधिकारियो को दे दिया। उस निबन्ध के अन्त मे उन्होंने सार

रूप से यह लिखा था—"मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की पद्धति का शिक्षा में सफल उपयोग हो सकता है। मेरे प्रयोग की असफलता मेरी अपनी दुर्बलता है।"

पंडितजी के जाने के पश्चात् वर्ष-भर तक लछमियाँ प्रातः-सन्ध्या गाँव के बालकों की पलटन एकत्र कर उनके 'बढ चलो' गीत को प्रतिध्वनित करता रहा। फिर धीरे-धीरे उस गीत में किसी की रंजकता न रही।

लछमियाँ बढ़ चला। एक-दो-तीन-चार वर्ष बीत गए। लछमियाँ युवक हो चला। उसके उपद्रवों ने गम्भीर और विकट रूप धारण करना आरम्भ किया।

बाहर खेत और उद्यानों से फल-फूल की चोरी करने वाला लोगों के घर-भीतर की वस्तुओं पर भी हाथ मारने लगा। लोग घबरा उठे। लछमियाँ के पिता भी चिन्तित रहने लगे कि क्या किया जाय।

काम करने में उसका बिलकुल मन नहीं लगता था। पंडितजी के स्कूल मे उसने जिस बाहरी जगत का चित्र पाया था, वह उसे बनाने का नहीं, बिगाड़ने का कारण हो उठा।

उसके गाँव से छः मील की दूरी पर मोटर की सड़क पर स्थित तिपनियाँ नामक एक स्थान था। कुछ दूकानें थीं वहाँ पर। तीन-चार गाँवों के मार्ग मिलते थे। आती-जाती मोटरें ठहरती थीं, पानी लेती थीं। यात्री भी पेट-पूजा कर लेते थे।

तिपनियाँ में आस-पास के गाँवो का एक सहकारी संघ भी था। उससे थोडी-थोड़ी दूरी पर पाँच-सात बँगले भी बने हुए थे। ग्रीष्म मे वे सब-के-सब बँगले दृश्य-अन्वेषकों, मैदान के ताप से छुटकारा पाने वालो, संघर्ष से अवकाश ढूँढने वालो से भर जाते थे।

उन प्रवासियों के दूध-दही, साग-पात, बीडी-सिगरेट के अतिरिक्त कभी-कभी खाद्य-सामग्री के संग्रह का भी केन्द्र तिपनियाँ था। ग्रीष्म-निवासियों के नौकर-चाकर भी किसी काम से या समय निकालकर

बहुधा तिपनियाँ में आया-जाया करते और उसकी चहल-पहल को बढ़ाया करते थे।

तिपनियाँ का जलवायु सुन्दर स्वास्थ्यप्रद था। उत्तर की ओर चीड के सघन वनों से आच्छादित विशाल तीन पर्वत-श्रेणियों ने हिमालय की सारी दृश्यावलि ओट में कर रखी थी, परन्तु दक्षिण की ओर खुलती हुई एक मनोरम घाटी ने उसे मनोहरता दे रखी थी। पहाड़ नीचे होते हुए मैदान में मिल गए थे और मैदान फिर ऊँचा होकर दृष्टि-रेखा तक चढ़ गया था। ग्रीष्म में वह मैदान की दृश्यावलि आकाश के रंग पहन छिपी रहती है और वर्षा मे बादलों से, परन्तु शरद और वसन्त में अद्भुत दिखाई देती है। खेती-वन, पथ-नदियाँ, ग्राम-निवास अपने धूसरित रंगों में एक विचित्र स्वप्न जाल-से प्रतीत होते हैं।

घाटी के बीचोबीच रजत की रेखाओं मे चमकती हुई एक नदी बहती है। कहीं सीधी और कहीं-कहीं लहराती हुई पहाड़ो के मोडों में छिपती-प्रकटती शून्य में अदृश्य हो जाती है।

सडक के नीचे तिपनियाँ का गाँव है। सड़क और गाँव के बीच में एक पहाड की समतल चोटी पर दो-तीन पीपल के पेड हैं। एक टूटी-फूटी दशा में भूमि-देवता का मन्दिर है और एक धर्मशाला है। धर्मशाला में कुली-मज़दूरों का अड्डा बना रहता है सदैव ही। वे लोग वहाँ खाना भी पकाते हैं और रात को विश्राम भी करते हैं। चारों ओर कोयला-कचरा फैला रहता है।

मन्दिर केवल नाममात्र का है वह। कभी शायद कोई पूजा लेकर वहाँ आता है, नहीं तो दूर ही से यात्री मन्दिर को हाथ जोडकर चले जाते हैं। मज़दूरों ने ही वहाँ अपना आधिपत्य जमा रखा है। मज़दूर भी अनियमित मज़दूरी के हैं। वे वहाँ खूब तम्बाकू-बीड़ी, चरस और गाँजे के दम लगाते हैं। चाय पीते हैं और जुआ भी खेलते हैं।

लछमियाँ आगे बढा—गाँव से वह तिपनियाँ के संसर्ग में आने लगा। प्रभात को कभी शय्या छोड़ने के उपरान्त ही और कभी भोजन

कर वह तिपनियाँ पहुँच जाता। कभी मिल गई तो वहाँ कुछ मज़दूरी करता, नही तो सारा दिन बातों ही-बातों मे बिताकर बड़ी देर बीते रात को अपने घर लौटता।

माता-पिता उसे समझाकर हार गए थे। पास-पड़ोसी कभी उससे बात भी नही करते थे। पिताजी उससे कहते—"अपने घर का काम न सही, कहीं दूसरी जगह ही किसी काम मे तुम्हारा मन लगा होता तो सभी चैन से रहते।"

पर लछमियाँ कभी कुछ उनकी सुनता ही न था। वह उनको गाँव के कुँए का एक मेढक समझता था।

गाँव में दीपावली के उत्सव से कुछ पहले पधानजी की गृहिणी की सोने की नथ खो गई। घर वाले सब इधर-उधर खेती-पाती मे व्यस्त थे। मकान मे ताला बन्द था बाहर और भीतर सन्दूक मे बन्द थी वह नथ। टूट-फूट का कोई चिह्न नहीं मिला। सन्दूक और द्वार पर के ताले ज्यों-के-त्यो मौजूद थे।

किस सफाई से माल उड़ा दिया! गाँव वाले इसे किसी पक्के खिलाड़ी का काम समझने लगे। पहले तो ऐसी कोई घटना गाँव मे नहीं हुई। सभी को विश्वास था, वह किसी बाहर वाले का काम नही था।

केवल पशु-पक्षियो के डर से गाँववाले द्वार बन्द किया करते थे। तालो का व्यवहार कोई जानता ही न था। चोरी और चोर का नाम भी नहीं ज्ञात था भोले-भाले ग्राम-निवासियों को। लछमियाँ की बढ़ती के साथ-ही-साथ तालो का उपयोग भी बढ़ चला था गाँव मे।

गाँव वालो की संशय की दृष्टि लौट-फिरकर बार-बार पड़ती थी लछमियाँ ही पर। वे कहते थे—"और किस बाहर वाले का इतना साहस हो सकता है जो हमारे बीच में आकर सूर्य के प्रकाश में इतनी भारी डकैती कर सकता! इसकी आयु के साथ हमने इसका चोट्टापन बढ़ता देखा है। अवश्य इसको दंड मिलना चाहिए, नहीं तो इसका

पापाचार बढता जायगा। यह बचपन में हमारी बेलों के खीरे चुराने वाला, धीरे-धीरे हमारे खलिहानो से अन्न चुरा-चुराकर बेचने लगा; यह हमारे घर के भीतर घुसकर ताला खोल आज हमारे धन-स्वर्ण का हरण करने लगा है और कल को—कल को यह अवश्य ही हमारे प्राणो पर भी चोट चला सकता है। इसका अवश्य कुछ प्रबन्ध होना चाहिए।"

पटवारी से कहा गया। साक्षी कुछ भी नहीं थी। वह क्या कर सकता था। 'पूछ' करनेवाले से पूछा गया। उसने उत्तर दिया—दक्षिण दिशा का चोर है, पूरब को माल चुराकर भागा है।" यह भी कोई बात हुई ? अँधेरे में एक ढेला चला दिया उसने।

पटवारी सरल और सीधे स्वभाव का मनुष्य था, उसे लोक-लज्जा भी थी और भगवान् का भय भी।

पधानजी के एक मित्र ने उससे कहा—" पटवारीजी, आपके अधिकार क्षेत्र में एक चोर ने चोरी की और आप उसे दंड देने में हिचकिचा रहे हैं।"

"बिना साक्षी के मै कैसे आगे बढ सकता हूँ ?"

'साक्षी उसी के मुख से प्रकट हो सकती है।"

पटवारी ने आश्चर्य से कहा—"उसी के मुख से ?"

"हाँ, लछमियाँ के अतिरिक्त दूसरे ने नहीं चुराया माल। पकडकर एक पेड़ से उलटा बाँधिए। उसे नंगा कर, पानी मे भिगाकर दो बिच्छू की शाखाएँ जमाइए उसकी पीठ पर। तीसरी की नौबत ही न आयगी। वह अपना अपराध ही स्वीकार नहीं करेगा, प्रत्युत माल भी लाकर आपके सामने रख देगा।"

पटवारीजी बोले—"और जो उसने स्वीकार नहीं किया तो ? माल उसने नहीं चुराया हो तो वह निरपराध का उत्पीड़न किसके माथे पर जायगा ?"

"निरपराध, और, लछमियाँ ?" एक ने कहा।

"दूसरा चोर और कोई नहीं है," दूसरा बोला।

"पटवारीजी, शासक को इतना कायर न होना चाहिए," तीसरे ने मुख खोला।

परन्तु पटवारीजी 'हूँ-हूँ' करते ही रह गए।

और लछमियाँ अपनी नई उगती हुई मूँछों पर ताव देता हुआ, पटवारीजी की आँख-से-आँख मिलाता नित्य उनके डेरे से होकर आता-जाता था। जब पटवारीजी का ध्यान अन्यत्र होता, तो वह खँसता, और सीटी बजाकर उनकी दृष्टि आकर्षित करता। वह उनकी आँखों मे धँसकर उनके हृदय में मानो यह आतंक जमाता—"सावधान, यदि निरपराध लछमियाँ के ऊपर कोई चोट चलाई तो वह खा जाएगा।"

एक पुराना पलटनियाँ बूट मोल लाया था लछमियाँ। उसे पहन एक दिन खट-खट करता हुआ सारा आँगन बजाता हुआ जा रहा था। दिन का भोजन चटकर चढ़ाई हो रही थी उसकी तिपनियाँ पर।

पिता ने उग्र स्वर में उसका पथ रोक लिया—"लछमियाँ! कहाँ जा रहा है?"

उतने ही उग्र स्वर में बेटे का उत्तर था—"इस प्रकार टोक देना असभ्यता है।"

पिता ने कोमल पड़कर कहा—"सुनो बेटा, तुम्हारे हित की बात है।"

"कहिए, जल्दी, कम-से-कम शब्दों मे," उतावला होकर बेटा कहने लगा।

पिता ने उसकी ओर बढ उसके कान मे मंत्र-सा फूँका—"सुनो, पटवारीजी कहते हैं—"

चिल्लाकर सारा गाँव गुँजा दिया उसने—"क्या कहते हैं पट-वारीजी?"

"धीरे-धीरे बेटा! जोश में मत आओ। बैठो सुन लो।" पिता हाथ पकड़कर दीवार की ओर खींच ले गए उसे।

दीवार पर बैठा तो नहीं वह, परन्तु उसने स्वर नीचा कर कहा—"क्या कहते हैं वह ?"

"कहते हैं वह, हमारे घर की तलाशी ली जायगी।"

"तलाशी क्यों ली जायगी ? क्या मतलब है उनका ?"

"पधानजी की स्त्री की नथ खो गई है।"

"उनकी लापरवाही।"

"सारा गाँव तुम पर शक करता है।"

"मुझ पर शक करता है ?" लछमियाँ क्रोध मे भर उठा, "कुल्हाड़ी कहाँ है ?" वह आँगन में इधर-उधर कुछ ढूँढ़ने लगा।

पिता उसका अनुसरण कर घबराते हुए बोले—"हैं, हैं, क्या ढूँढ़ने लगे तुम ?"

"कहाँ है कुल्हाडी ?"

"क्या करोगे उससे ?"

"चोर बनाकर लछमियाँ इस गाँव से मिटा दिया नहीं जा सकता। हत्यारा बनकर जायगा। कहाँ है कुल्हाड़ी ? मैं इन सबके सिर लाल कर जाऊँगा।"

"नहीं, नहीं, बेटा ! यह क्या बकने लगे तुम ?"

"बहुत दिनो से पहचानता हूँ मै इन्हे। ये लछमियाँ का आगे बढ़ना नहीं देख सकते। आप नंगे पैर नंगे सिर इनके खेतों में परिश्रम करते हैं। लछमियाँ जूता पहनने लगा है और इनके खेतों को रौंदकर आगे बढ गया। इन्होंने अधिकार नामक एक शब्द बनाकर आपको मोह रक्खा है। आपके श्रम को तुच्छता देकर उपज का अधिकांश हड़प कर लेने का इनका पुराना स्वभाव है। धरती माता पर अधिकार किसका है ? जो उसे अपने श्रम की श्यामलता देता है, जो उस पर अपने आँसुओं के फूल खिलाता है। जोतने-सींचने के लिए खेत हमारे और अन्न समेट लेने के लिए इनके। चुगने-चराने के लिए गाय हमारी और दूध-घी हडप कर लेने के लिए इनकी।"

"ऐसा नहीं कहा जाता बेटा, पधान जी सतजुगी महात्मा हैं।"

"तुमने महात्मा के माने समझ रक्खे है रुपया-पैसा, उनकी रंग वार्निस से चमकती, चूने से उजली और पत्थरों से ऊँची ... उनकी मोटी लोहे की चादरों से छाई गई छत, और क्या? उनका एक लड़का दिल्ली में और एक लखनऊ में सरकारी पद पर है। वे कभी-कभी छुट्टियां घर पर बिताने आते हैं। नये रंग और नई काट की वेश-भूषा से, नए चलन और व्यवहार से वे आपकी आंखों मे चकाचौंध उत्पन्न कर जाते है। वे अँगरेजी के उच्चारण से आपके भय बढ़ा देते है और उनके स्त्री-पुत्र रँगे हुए मुख, नख और पॉलिश किये हुए जूतों से बढ़ा देते है आपके अचरज। क्यो पिताजी! आपने उनकी देव-कल्पना कर रक्खी है! और हम दिन-भर उनकी सेवा करने वाले छोटे-छोटे कीड़े—कोई मूल्य ही नहीं हमारा! वे आभूषणों के पहनने वाले है और उनमें से जब एक खो जाता है, तो चोर लछमियाँ है। कौन करता है मुझ पर शक? मुझे उसका नाम बताओ।" लछमियाँ उग्र होकर बोला।

"शक? शक? कोई नहीं करता बेटा। पधानजी बड़े सच्चे आदमी हैं।"

"हमारे हाथ की छुई हुई रोटी नहीं खायँगे, परन्तु हमारे पसीने में भीगा हुआ अन्न अपने भण्डार मे भर लेंगे!"

"नही तुम नहीं जानते, वह बड़े दयालु हैं।"

"हाँ, घर में जब कोई फूल-फल सड़ने लगते हैं, खाद्य-सामग्री बच कर उसमें बदबू आने लगती है, तब वह पधानजी के माथे पर पोते गए चन्दन की उज्ज्वलता सार्थक करने के लिए आपको मिलती है कि आप उनके गीत जारी रखें। जब उनके पहने हुए कपड़ो के रंग फीके पड़ जाते है, जोड़ उखड़ जाते है और खींचने पर वे बोलने लगते हैं तब वे हमें मिलते हैं कि हम अपनी लज्जा ढककर उनकी जय पुकारते फिरें।"

"नहीं बेटा, तब तुम्हारा जन्म भी नही हुआ था। तुम पधानजी

की ही शरण में पैदा हुए हो और इन्ही की छाया मे पले हो, और किसी को कहने दो, तुमको तो उनकी निन्दा सुननी भी नही चाहिए ?"

"क्या सत्य है उनके ? केवल एक ढोल की पोल । शंख-घंट हिला लिये प्रभात-संध्या-समय, माला लेकर सीताराम-सीताराम रटते खडाऊँ खटकाते हुए गौशाला मे गाय को दे आए दो ग्रास, कोई मिल गए, तो बाँटने चले फोकट के आशीर्वाद ! ये आशीर्वाद देने वाले हो गए ! धरती माता के तमाम आशीर्वाद हडपकर इन्होने प्रतिदिन हमारा मुँह देखते ही वह ज़बानी सम्पत्ति बरसा दी हमारी खोपडी पर और हम निहाल हो गए ! हमारे श्रम से ऊँची उनकी अट्टालिका ऊँची-ऊँची खिडकियो से हम पर थूकती है और उनका आशीर्वाद इस प्रकार हमें फलता है । देखो पिताजी, अपने इस घास पत्ती, जलाने के ईंधन और गारे-पत्थर के ढेर की ओर देखो इसी को आपने 'घर' का नाम दिया है ?"

"बुरी संगति ने तुम्हारी बोली को मैला कर दिया ।"

लछमियाँ अपनी ही कहता जा रहा था—"इनके घर की महिलाएँ नई-नई साडियाँ पहन आँगन मे तुलसी-मंडप पर चली आईं, पूजा-सज्जा हाथो पर तोलती हुईं । कुछ पानी उछाल दिया सूरज की किरणो पर, कुछ गंध अक्षत और फूल बिखरा दिए तुलसी पर, कुछ हाथ जोड-जाड नाच-फिरकर चली गईं वे घर के भीतर । थाली मे कोई टूटा बतासा, पसीजा मिश्री का टुकडा हुआ तो मिल गया सामने खडी तुम्हारी सन्तान को नैवेद्य के रूप मे ! जिसका दर्शन जीभ के सोये हुए स्वाद को छेड जाय और स्पर्श पेट के चारो कोनो मे हलचल मचा जाय ! वाह रे त्याग, वाह रे सत्य, धन्य रे धर्म !"

"बाढ़ और अकाल का मारा हुआ जब तुम्हारा पिता काली-कुमाऊँ से अठारह घाटियो मे धूल उडाता हुआ यहाँ आया तो पधानजी ही वह पहले मनुष्य हैं जिन्होने मेरा ढाढस बँधाया और जीने की चिंता

दूर कर दी। कमाने-खाने को खेत दे दिये, मकान बनाने को यह भूमि।"

"आप अपने को क्षत्रिय का पुत्र कहते हैं। आपका पतन क्या उस दिन नहीं हो गया, जिस दिन आपने खड्ग छोड़कर हाथ में हल ले लिया?"

"राजा जनक नहीं चलाते थे हल? श्रीकृष्ण भगवान के बड़े भाई नहीं थे हलधर?"

"सब इन गुरुओं की माया है कि आपका हाथ हल पर ही जमा रहे और बैठे-ही-बैठे इनकी पतीलियां चूल्हे पर उबलती रहें।"

लछमियाँ का रोष उतर चला था। पिता ने इस प्रसन्नता को छिपाकर कहा—"पंडितजी के स्कूल ने बिगाड़ दिया तुम्हें। लेकिन पधानजी, उन्होंने अपने बच्चों में से किसी को उनके स्कूल में भेजा तो नहीं, पर पंडितजी की बड़ी प्रशंसा करते हैं।"

"पधानजी के ही भैया थे पंडितजी भी।"

"हमारी कोई छूत-छात नहीं मानते थे। हमारे साथ उठते-बैठते थे, खाते-पीते भी थे। गरीब और गरीबी से ही बड़ा प्रेम था उनका। पधानजी की देहली लाँघते सिर्फ एक दिन देखा था मैंने उन्हें। धनी-मानी की ओर दृष्टि कभी नहीं रखी उन्होंने।"

"यह भी एक लटका है। नगर में नौकरी मिली नहीं, चले आये गाँव में अपनी खंजरी बजाने।"

"अजीब स्कूल खोल गए वह।"

"क्या खोल गए? धनी-मानियों का बेटा तो कोई आया नहीं उन्हें गुरु बनाने। मिल गए हम किसानों के बेटे। भाट और भाँडों की विद्या बजाने लगे वह हमारी खोपड़ियों पर। वह तो लछमियाँ ही है, जिसने उनका स्कूल अधिक नहीं चलने दिया।"

पिता सोच रहे थे, वह गप्प मार रहा है।

"क्षत्रिय की संतान थे; शस्त्र चलाना सीखते, बैलों को हाँकने

लगे। आगे बढ़ो की ध्वनि जगाते हुए चले पंडितजी हमें शिक्षा देने। न पढ़ना-लिखना सिखाया, न हिसाब। एक अन्धी छाया के पीछे हाँक दिया हमें। रटा दिया—'बढ़ चलो, बढ़ चलो।' हाथों में दे दिया डमरू और पैरों में बाँध दिए घुंघरू!"

"परेड तो कराते थे।"

लछमियाँ सोचने लगा, उसके पिता ने बातों-ही-बातों में उसे कहाँ-से-कहाँ उठाकर फेंक दिया। उसे फिर याद आया और उसने पूछा—"पधानजी को है क्या मेरे ऊपर कोई शक? क्या कभी आपसे उन्होंने कहा कुछ?"

"नहीं, वह तो देवता हैं?"

"फिर किसने कहा? उनके बड़े लड़के ने?"

"नहीं, किसी ने भी नहीं कहा।"

"तलाशी का भय तभी हो सकता है आपको जब आपके घर में चोरी का माल हो।" लछमियाँ जाने लगा।

"खेती समेटनी है बेटा और तुम मटरगश्ती करने चले?"

"जा रहा हूँ मज़दूरी करने तिपनियाँ। खेती तो मैं करने का नहीं कभी मैं सिर खपाकर खरा पैसा हाथ में लेना जानता हूँ। पाँच रुपये में यह पलटनियाँ जूता खरीदा है। अच्छा तो है?"

"रुपये कहाँ से लाए?"

"यह कंघी और आइना भी।" लछमियाँ दीवार पर बैठ गया और जेब से आइना निकाल सिर के लम्बे-लम्बे बालों में माँग निकालने लगा।

"कहाँ से लाए बेटा?"

"पधानजी की स्त्री की नथ बेचकर, और कैसे? आप भी क्या बात करते हैं पिताजी? परिश्रम करता हूँ जी तोड़कर तिपनियाँ में।"

"लेकिन यह औरतों की-सी माँग क्या निकालने लगे सिरपर?

हमे तो साग में धुँआ उठाने को तेल की बूँद नहीं और तुम्हारे सिर मे छुपछुपाने को इतना ?"

सिर में उँगली रगड लछमियाँ ने पिता की ओर बढाई—"देखिए, यह साग छौंकने का तेल है क्या ? कैसे महकता है ? टोपी खोलते ही पधानजी के कोठे तक पहुँच गई होगी सुगन्ध ।"

"बुरी संगति से बचते रहना बेटा ! मैंने सुना है तुम लोग वहाँ गाँजा पीते हो और ताश खेलते हो ।"

"उडाने वालो की क्या कहते हो । दिन-भर की मेहनत के बाद कभी कुछ हँस-बोल लिए तो क्या हो गया जुलम । किसने कह दिया कि तिपनियाँ मे अच्छी संगत नही है ? देश के एक-से-एक बड़े विद्वान् और धनी-मानी पुरुष वहाँ निवास करने आते हैं । घर से बाहर तो पैर खिसकाते नहीं हो और यहीं बैठे-ही-बैठे नापने लगते हो तीनों लोक ।"

"तुम जानो, अब दूध-पीते तो हो नही ।"

"हम एक कम्पनी खोल रहे है तिपनियाँ में ।"

"कम्पनी क्या हुई ?"

"जिसका नाम पंडितजी ने यहाँ भूल से स्कूल रख दिया था ।"

"क्या होगा वहाँ ?"

"जो कम्पनियो का होता है और क्या ? साहब लोग अगर कोई बढ़िया चीज यहाँ छोड़ गए हैं, तो कम्पनी ही है ।"

पिता केवल सिर हिलाने लगे ।

"किसानों की दशा सुधारने के लिए लेक्चर भी दिए जायंगे, लिख-पढ़ भी होगा ।"

"तुम तो अपढ़ हो ?"

"देश के एक नेता आये है । तिपनियाँ के एक बंगले में ठहरे हैं । मोटर से उतारकर सामान पहुँचाया था मैंने उनका । बातों-ही-बातों मे मेरी दोस्ती हो गई उनसे । बडे बढिया आदमी हैं । इस पहाड पर जो प्रकृति का रूप बिखरा पडा है, उसे देखकर वह बड़े प्रसन्न है । परन्तु

हमारी निर्धनता उन्हें असह्य हो उठी है पिताजी !"

"क्या निर्धनता है हमारी ? अपने-अपने करम, अपना-अपना भाग !"

"यह भाग्य की बाँट ही तो हमारा दुर्भाग्य है, वह कहते हैं—मनुष्य-मात्र सब बराबर ही है।"

"पाँचो उँगलियाँ बराबर ?"

"और नहीं तो क्या ?"

"पढा-लिखा और बेपढ़ा दोनो एक ?"

"हाँ दोनो एक—बिलकुल एक। भाग्य और अवसर इन दोनों में से कोई कुछ नहीं। अट्टालिका मे उत्पन्न हो जाने से एक बालक सोने के चम्मच से दूध पीता है और दूसरा झोंपडी मे पैदा हुआ दूध के लिए भी तरसता रह जाता है। यह भेद मिटा दिया जायगा।"

"यह भगवान् का बनाया हुआ है।"

"यह मनुष्य की रचना है।"

"उसे कोई मिटा नहीं सकता।"

"वह खुद ही मिटता चला जा रहा है। आप तो इस गुफा मे रहते है। दुनिया के प्रकाश का कुछ पता भी है आपको ?" लछमियाँ बोला।

"पधानजी और हम; हम भी दोनो एक ?"

"एक, बिलकुल एक।"

"वे पढे-लिखे हैं।"

"हम परिश्रम करते हैं।"

"वे ऊँचे चौतले घर में रहते है।"

"हम भी रहेंगे ? हमारा घर भी ऊँचा होगा।"

"कैसे होगा ?"

"उनकी ऊँचाई इतनी गिरा दी जायगी कि हमारी निचाई से मिलकर सब बराबर हो जायँगे।"

"भाग्य कोई न्यायकर्ता नही है। न्याय करेगा 'श्रम', समझने

हैं आप श्रम; हमारे कर्म। जो श्रम करेगा, उसी को खाने का अधिकार होगा। दिन-भर तकिए-गद्दों के सहारे ये बक-बक करने वाले मक्खन-मेवे उड़ाने न पायँगे।"

"कहाँ से यह द्वेष उपजा लाए तुम अपने मन में? अरे जिनका सुख बड़ा है, उतना ही दुख भी तो उनका बड़ा है। मैं तो फिर तुमसे कहूँगा, पंडितजी ही यहाँ स्कूल खोलकर तुम्हारी बुद्धि में विष मिला गए हैं। हम सन्तोष से रोटी खा रहे थे। वह आकर तुमसे कह गए—'लछमियाँ तेरी रोटी रूखी है।' तूने चुपड़ी के फेर में पड़कर अपनी बेचैनी बढ़ा दी।"

"पंडितजी हमें आगे बढ़ाने आये होंगे, परन्तु उन्होंने हमें समता का उपदेश कभी नहीं दिया। बढ़े हुए को पीछे करने से तो हमारी उन्नति में वेग पैदा नहीं कर दिया जा सकता। लेकिन उनका हमें आगे बढ़ाना एक भुलावा ही था। वे मोटर, रेल और हवाई जहाज के तीनों चित्र झूठे थे, इसी से मैंने मिटा दिए। पधानजी को नीचे उतरना पड़ेगा ही पिताजी। वह यदि खेत में परिश्रम न कर सकेंगे तो एक भी दाना उनके भंडार में जाने न पायगा।"

"लछमियाँ, तू इस गाँव में अब नहीं रह सकता।"

"हाँ, बढ़ चला मैं बढ़ चला!" कहकर लछमियाँ उठकर जाने लगा।

"तू बहक चला! बहक चला! तूने बहकने का नाम बढ़ना रख दिया।"

"कहाँ के बखेड़े में मेरा बखत बरबाद कर दिया,", बड़बड़ाता हुआ लछमियाँ चला गया।

पिता को एक सन्तोष था, लछमियाँ शान्ति के साथ गया। वह चिन्ता करने लगे—"यह लड़का पढ़ा-लिखा नहीं है, लेकिन बातें करने में बड़ा चतुर हो गया है। लोग झूठे ही उस पर नथ की चोरी लगा रहे हैं। क्या वह पधानजी की नथ चुराकर छोटे-बड़े का भेद मिटा रहा है?"

गृहिणी खा-पीकर जूठे बरतन लेकर बाहर निकली। सारा आँगन धूप मे चमक रहा था। निकट ही एक खेत में आडू के पेड से बँधी बछिया कुछ तिनके चबा रही थी। गृहिणी की परछाईं पाकर बोल उठी—"माँऽऽ"

कढ़ाई में कुछ धोवन और कुछ भात था; गृहिणी ने बछिया के सामने रख दिया। हाथ धो, कुल्ली कर वह पति के सामने आई—"क्या बडबडा रहा था ?"

"दिमाग खराब हो गया है इस लडके का। जान पडता है यह हमें अब इस गाँव में नहीं रहने देगा।"

"मै कहती हूँ, तुम कुछ बोला ही मत करो उससे।"

"मै कहता हूँ तुम उसे कुछ खाने को ही मत दिया करो। जहाँ जाता है, जहाँ मजदूरी करता है, वहीं अपने खाने-पीने का भी उपाय करे। लालन-पालन कर दिया उसका इतने दिन। अब और क्या चाहता है वह ?"

पत्नी मुँह फेरकर बरतन मलने चली गई। पति देवता चिलम लेकर चूल्हे से उसमें आँच रखने को भीतर बढे। कोयले सब बुझ गए थे। वह रिस मे भरे बाहर आये। पत्नी की ओर देखा। बिना कुछ कहे-सुने पधानजी के घर चिलम लेकर चले गए।

पधानजी धूप में कम्बल बिछा, बैठे-बैठे भागवत पढ़ रहे थे; दत्त-चित्त थे। जब उस असामी की आहट पर उनका ध्यान न खिंचा तो उसने चिलम भूमि पर रखकर बडी नम्रता से कहा—"महाराज, पाय-लागन !"

"आशीर्वाद ! बैठो।" पुस्तक पढते-पढते ही वह बोले।

"कोई खोज-खबर मिली महाराज ?"

पधानजी ने चश्मा उतारकर पुस्तक के बीच मे रख उसे बन्द कर दिया—"क्या मिला और क्या गया ? मै तो सर्वत्र ही भाग्य की प्रधानता मानता आया हूँ।"

असामी को पुत्र का व्याख्यान याद पड़ा और वह सोचने लगा—"भाग्य को मानने पर मनुष्य को कम परिश्रम करना पड़ता है। किताब की रेखाओं में आँखें दौड़ाने में क्या मेहनत पड़ती है, जो हल की रेखाओं में बैलों को दौड़ाने से पड़ती है!"

पधानजी कह रहे थे—"उसका जुड़ जाना जब एक भाग्य की बात है तो उसका खो जाना भी उसी की करतूत नहीं है क्या?"

"लेकिन महाराज, यह बड़ी भयानक बात है। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ यहाँ। गहना सन्दूकची के भीतर, सन्दूकची बकस में और बकस मकान के अन्दर। सब पर सांकल, सब पर ताले! कैसे मार लिया चोर ने हाथ?"

"भली चलाई। तुमसे क्या छिपाऊँ? श्रीमती जी कभी कहती हैं सन्दूकची में थी नथ, और कभी कहती हैं सिरहाने! यह भी कोई बात हुई?"

असामी बोला—"घर के भीतर अच्छी तरह ढूँढ लेना था महाराज, मैं तो समझता हूँ कोई नहीं चुरा सकता, ऐसा साहस हो नहीं सकता किसी का।"

"कभी कहती है—नथ नहीं, सन्दूक की चाबी थी सिरहाने। मैंने तो कह दिया, होना था सो गया। हल्ला मत करो, बाहर मत फैलाओ बात को।"

"महाराज, मेरा बेटा लछमियाँ, वह तो गाँव में कभी रहता ही नहीं। सूर्योदय हुआ नहीं कि वह चला तिपनियाँ को और कभी-कभी तो आधी-आधी रात बीते घर को लौटता है।" लछमियाँ के पिता बोले।

"नहीं, नहीं, लछमियाँ तो अपने घर का बालक है। ऊधमी है, झगड़ालू है, पर ऐसा काम थोड़े कर सकता है," पधानजी ने कहा।

"हाँ महाराज, पंडित और प्रजापालक हैं आप। यही विचार आपको शोभा देता है। मैंने सुना था पटवारीजी लछमियाँ को पेड़ में उलटा

लटकाकर उसके मुँह के नीचे मिरचों की धूप देना चाहते हैं। महाराज कुछ सबूत भी तो होना चाहिए।" असामी ने अधीर होकर कहा।

"कौन कहता है ? नहीं, नहीं, ऐसा न होने पायगा," पधानजी ने उत्तर दिया।

"लछमियाँ नंगा है महाराज, अगर ऐसा कुछ किया गया, तो वह गाँव मे कोई-न-कोई उत्पात मचाकर रख देगा। न उसे मेरा डर है, न भगवान् का। वह मरने-मारने को उतर जाता है बातों-ही-बातो मे। आप बडे आदमी हैं, इज्जत-आबरू रखते हैं। नथ चुराकर कहाँ ले जाता वह ? जलेबी तो थी नहीं कि मुँह फिरा निगल ली।"

"नहीं जी, ऐसा कहीं हो सकता है ?"

"आप मालिक हैं, साफ-साफ कह दिया मैंने आपसे।"

"लछमियाँ कहीं नौकर है क्या ?"

"नौकर क्या है महाराज, ऐसे ही मेहनत-मजदूरी करता है तिपनियाँ मे।"

"कोई पैसा देता है तुम्हें ?"

"कानी कौडी नहीं।"

"फिर ? कभी कपडे-लत्ते, नमक-तेल से मदद करता है ?"

"कभी, मन में गड गई तो।"

"हवा ही एक अजीब बह चली है। लडके अपने माता-पिता के अपने प्रति तो सभी कर्तव्यों को समझते हैं, परन्तु अपनी ओर से लौटाने को माता-पिता के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है।"

"हाँ महाराज, ठीक यही बात है। परन्तु आप तो सौभाग्यशाली है। भगवान् ने पुत्र दिये हैं। सभी पढ़े-लिखे और नौकर-चाकर हैं।"

"हाँ, सभी-कुछ है," पधानजी ने बडी गहरी साँस लेते हुए कहा।

असामी उनकी मुद्रा देखता ही रह गया। कोई बोल ही न निकल सका उसके मुख से।

पधानजी बोले—"लेकिन जो है सब ठीक ही है। वर्ष कट गए, महीने भी, ये दिन भी बीत ही जायँगे।"

"बड़ी-बड़ी नौकरियों में हैं आपके लड़के महाराज, कुछ भेजते ही होंगे।"

"नहीं, कुछ भी नहीं।"

"कुछ भी नहीं?" चकित होकर असामी ने पूछा।

"नहीं। किसी से क्या छिपाऊँ, जब सत्य ही ऐसा है तो।"

"कारण?"

"कहते हैं, बड़ा शहर—व्ययों की भरमार। बड़ी नौकरी, उसकी प्रतिष्ठा सँभालने के लिए भी व्यय ही चाहिए। पूरा ही नहीं पड़ता किसी प्रकार, यही बार-बार प्रकट करते हैं। दुनिया उजाड़ दी फैशन ने," पधानजी बोले, "पैसा ही नहीं सारा धरम-करम भी भेंट चढ़ गया उसी की।"

"हाँ महाराज, यह लछमियाँ भी इसी फैशन के पीछे दौड़ चला है। मैं समझता था यह अपढ़ मूर्खों का रोग है।"

पाँच

लछमियाँ लिपनियाँ जा पहुँचा। चहल-पहल बढने लगी थी। मार्ग के एक ओर पानी का नल था, नीचे एक डिग्गी बनी हुई थी; उसमे पशुओ के पीने के लिए पानी जमा होता रहता था। नल के पार्श्व मे एक दो-तला मकान था, उसमे एक हलवाई ने होटल खोल रखा था। निचले तल में उसकी भट्टी थी। वहीं वह ग्राहकों के लिए पूरी फुलाता था और अपनी रोटी सेंकता था। भट्टी के निकट एक गैलरी मे उसकी थालें सजो रहती थीं। कुछ में मिठाई, कुछ मे पकी साग-भाजी, कुछ मे हरी और कुछ मे मौसमी फल-फूल। पान और चाय भी रखता था वह।

दूकान के बाहर भूमि पर एक लम्बी बैंच पडी रहती थी—उन ग्राहको के लिए जो खुली वायु मे खाना पसन्द करते हो या जिनके दूकान के भीतर प्रवेश पर दुकानदार को कोई आपत्ति थी। वैसे दूकान के भीतर ही भोजन का प्रबन्ध था। एक ओर भूमि पर चौकियाँ और चटाइयाँ भी बिछी थीं और एक ओर एक लम्बी चीड के मेज के चारो ओर चार टीन और सरियो की कुरसियाँ भी थीं।

दो-तले पर होटल था। दो कमरे, दोनो मे एक-एक पुरानी दरी बिछी थी। एक-एक बान की चारपाई और एक-एक मेज। एक-दो दिन के लिए रहने वाले यात्रियो के लिए ही वह प्रबन्ध था। हलवाई नीचे दूकान पर ही सोता था। नीचे उसके बगल के दो कमरो में फल-फूलो का गोदाम था।

होटल के सामने सड़क के पार चार दूकानें थीं—एक कुछ सजावट लिये हुए। अलमारियों में चाय-बिस्कुट के बण्डल, विलायती मिठाइयाँ, सुगन्धि-तेल, साबुन, टूथ पेस्ट, सुई-तागा, सिगरेट, दियासलाइयाँ; एक अलमारी में कुछ चुनी हुई प्रसिद्ध पेटेंट दवाइयाँ—देशी-विदेशी दोनों प्रकार की; एक ओर बाँज और दूसरी लकड़ी की पॉलिश और बिना पॉलिश की हुई लाठियाँ; कुछ स्टेशनरी का सामान और बाहर टोकरियों में सेव के दाने भी। वे तिपनियाँ के जनरल मर्चेंट थे। शाखा-पोस्ट ऑफिस भी था उनकी दूकान में। कुछ खाद्य-सामग्री की आढ़त का काम भी करते थे बाहर-ही-बाहर। बाहर एक तिखूँटे पर काँटे से उनका तराजू लटकता था।

एक कपड़े की दूकान थी; एक ओर उसमें एक दरजी भी बैठता था और एक ओर पनवारी ने अपना फड़ सजा रखा था। एक आटे-चावल, घी-तेल, मिरच-मसाले की दुकान थी। उसके बरामदे में एक चूल्हे पर एक केतली और एक अलमारी में उलटे गिलासों की पलटन सजाए एक चायवाला बैठता था। ये तीनों दूकानें दो-तला थीं। चौथी दूकान एक कच्चा झोंपड़ा था, उसमें एक खोमचे में रायता, खटाई और पकौड़ियाँ सजाकर एक आदमी बैठता था। पान, बीड़ी, सिगरेट और चाय का भी मेल मिला रखा था उसने।

लछमियाँ उस अकेली दूकान के बाहर की बेंच पर बैठ गया। उसने अपने कान में खोंसी हुई अधजली बीड़ी निकाली और हलवाई की भट्टी में उसे सुलगाने लगा।

हलवाई की कढ़ाई भट्टी में उबल रही थी। वह पूरियाँ बेल रहा था। बोला—"आँच मत गड़बड़ाना।"

लछमियाँ धुँआ खींचकर पूछने लगा—"रेगुलर आ गई?"

"कहाँ रेगुलर के फेर में फँसा है रे लछमियाँ! नहीं आ रही है समझ में तेरी बात?" दूकानदार ने कहा।

हँसता हुआ बीड़ी चूसने लगा लछमियाँ। रंग-ढंग देखकर समझ तो गया वह रेगुलर नहीं आई अभी।

"क्यों रे ?" दूकानदार ने फिर प्रतिस्मरण दिया।

"क्या है तुम्हारी बात ?"

"मेरे होटल को नौकरी में क्यों नहीं आ जाता ?"

"नौकरी ? अब तो हम स्वतन्त्र हो गए हैं, अब कैसी नौकरी ?"

"स्वतन्त्र हो गया है तू ? झोपडी के पत्थर तेरे सोने के हो गए और छत पर की घास-फूस पर छा गए कल्पवृक्ष के शाखा-पत्र ?"

"स्वतन्त्रता एक मन की मौज है, रुपये के साथ उसका क्या सम्बन्ध ?"

"खाने का तेरा ठिकाना नहीं, पलटन के सिपाहियों की उतरन तेरे बदन पर, डींग मारता है तू स्वतन्त्रता की। पढ़ा-लिखा कुछ है नहीं, बातों में घुस जाता है तू बड़े बडों को। दिन-भर मोटर से उतरने वाले यात्रियों के ट्रंक-बिस्तरों पर ताक लगाए बैठा रहता है। यही है तेरी स्वतन्त्रता ?" होटलवाला बोला।

"बिना परिश्रम कोई रोटो नहीं खाने पायगा। इसी से परिश्रम करता हूँ। अपने मन से करता हूँ, किसो की धौंस नहीं। मौज आई किया काम, नहीं तो दीवार पर बैठकर देखता रहा जगत का चलता-फिरता तमाशा।"

"यहाँ होटल मे किसकी धौंस है ? पानी निकट है। ग्राहकों को परोसना-पूछना, बरतनों और होटल की मँजाई-सफाई बस। फिर दिन-भर थोडे ग्राहकों का ताँता बँधा रहता है ? गाडी के समय ही पर तो।"

'खाली बखत मे क्या होगा ?"

"खाली बखत मे बैंच पर बैठकर बीडी पीते रहना और कुत्ते बिल्ली, गाय-भैंस को दूकान मे मुँह मारने से बचाते रहना।"

- "हो गया फिर खाली बखत। कभी पैसे देने वाले ग्राहकों की सेवा तो फिर कभी पैसे न देने वाले ग्राहकों की देख-रेख। फिर न-जाने कब

तुम कहीं भेज दो। गुलामी की जंजीर तो पड़ी ठहरी मेरे गले में प्रातः-काल से सन्ध्या तक !"

"मौज से हलवा-पूरी उड़ायगा यहाँ; पान खायगा, चाय पिएगा और सिगरेट फूँकेगा फोकट ही में। महीने-के-महीने तनखाह अलग जमा करेगा। रहना चाहेगा तो ऊपर के बरामदे में सोने को भी जगह दे दूँगा।"

"क्यों नहीं, दिन-भर आपके ग्राहकों की चाकरी और रात-भर आपके माल की चौकीदारी। चौबीसों घंटे और तीसों दिन अपने को नहीं बेच सकता मैं आपके हाथ। एक-एक घंटा मेरा है, घंटे के साठों मिनटों का राजा मैं हूँ—स्वतन्त्र हूँ।"

"सोच ले लछमियाँ, ऐसी चुपड़ी और न मिलने की कहीं। बोझ के बिना अगर तेरे सिर की खुजली नहीं मिटती, तो तू मोटर में से यात्रियों को पटाकर मय सामान के ले आया कर यहाँ। उनसे भी मजूरी लेते रहना और मुझसे भी तनखाह; दोहरी आमदनी !"

"नहीं गुरु ! यह सब लालच मत दिखाओ मुझे। लछमियाँ इन जालों में फँसने का नहीं। वह बढ़ चला है, कहाँ उसे इस जूठे और झाड़ू में घेर देना चाहते हो। एक बीड़ी तो पिलाओ।" कहकर लछमियाँ ने होटल वाले की दूकान में रखे एक बण्डल में से एक बीड़ी खींच ली और उसे सुलगाने लगा।

"पछतायगा रे लछमियाँ।"

"मधुवा तो नहीं आया यहाँ ?"

"मधुवे की संगत में मत जा। वह दस नम्बरिया है।"

"आपके यहाँ नौकरी कर चुका है वह।"

"चोट्टा है बड़ा। कई बरतन चुरा ले गया वह होटल के। चीनी की बोरी आधी साफ कर दी।"

"वह तो दो महीने की तनखाह बाकी बताता है आपके ऊपर।"

"जूते मारूँ उसकी खोपड़ी में दस, मेरे सामने अगर ऐसा मुख उसने खोला तो।"

मोटर की घरघराहट सुन पड़ी। साथ ही उसके भोंपू ने भी लछ्मियाँ के कान खोल दिए।

"आ गई,"—कहता हुआ वह दौड़ पड़ा उस ओर।

मोटर रुकी। उसमें से कुछ यात्री उतर पड़े। पर सामान किसी का भी नहीं उतरा। लछ्मियाँ निराश होकर सोचने लगा था, किधर जाऊँ। मधुवा मिल गया उसे।

मधुवा भी निकट के किसी किसान का लड़का है। लछ्मियाँ ने उसे अपने रंग में रंग लिया है। उसने खूब अच्छी तरह 'बढ चलो' का मन्त्र उसके कानों में फूँक दिया है। उसने खेती से उसके मन में उच्चाटन पैदा कर दिया है और चाकरी से भी। भूमिया के मन्दिर की उस लावारिस धर्मशाला को हथियाने के लिए उनकी मन्त्रणा चल रही थी बहुत दिनों से।

"मधुवा, भाई बोझा ढोने से अधिक दिन काम नहीं चल सकता। धर्मशाला में गाँजे का दम लगा ताश खेलने से भी नहीं।"

"फिर ?"

"किया कुछ तुमने ? जब तक वह पूरी की-पूरी हमारे अधिकार में नहीं आ जाती तब तक हम वहाँ कोई काम आरम्भ कर ही नहीं सकते है।"

"वह कोढी और वह साधू वहाँ पहाड़ की भाँति जम गए हैं। कहते है, यह तो धर्मशाला है, किसी एक की भूमि नहीं, हम नहीं जायँगे।"

"तुमने कहा नहीं कि हमने गाँववालों से पूछ लिया है।"

"कहा तो सही, पर वे दोनों दूसरे कान से उड़ा गए।"

"अच्छा मैं ही करूँगा उनका इलाज।"

"धर्मशाला के बाहर छप्पर खड़ा करके ही तो रहते है, रहने भी दो न उन्हें !"

"दोनों बदमाश हैं। कैसे रहने दो जी ? कोढ़ी महा भयानक रोग के कीडे फैलाता है और साधू वह भी तो बिना परिश्रम किये समाज का एक भार है। हट्टा-कट्टा, क्या अधिकार है उसे जो मुफ्त मे बैठा-बैठा खा जाय ? वह हमारे समाज का कोढ़ है।"

"धर्म के नाम पर, भूमिया के मन्दिर का उद्धार करने के लिये ही तो आपने गाँववालों को फुसलाया है और तब आपको धर्म के नाम पर साधू और दया के नाम पर उस कोढ़ी को वहाँ रहने देना ही होगा।"

"कैसी दया ? कैसा धरम ? क्या हम चंदा इकट्ठा कर उस मन्दिर का उद्धार करेंगे ? कभी नहीं, हम तो वहाँ आलू कंपनी खोलेंगे।"

"आलू-कंपनी कैसी ? आलू तो बहुत भारी होता है। कहाँ ढोवेंगे ?"

"एकदम रेल के स्टेशन मे मिला देंगे।"

मधुवा सिर खुजाने लगा—"पैदल ?"

"पैदल नहीं, पहिया।"

मधुवा नहीं समझा—"कैसा पहिया ?"

"पहिया,—चक्का ! जिसने मनुष्य का बोझ अपने ऊपर लादकर उसके मनसूबों मे वेग बढ़ा दिया उसका; समय कई गुना कम कर उसका भंडार भर दिया।"

"तुम तो कहते थे कंपनी में खूब मौज होगी, हलवा-पूरी उड़ेगी, हारमोनियम-तबला बजेगा ?"

"हारमोनियम ? क्या भाई क्या नाम लिया तुमने ? वह बडी मनहूस चीज है। तुम मिडिल तक व्यर्थ ही पढ़े हो, विचार बढ़े नहीं हैं तुम्हारे, सांस्कृतिक उत्थान कुछ भी नहीं हुआ तुम्हारा। मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, पर बातें सातों समुद्र और सातों आकाश की जानता हूँ; पंडितजी सब बताया करते थे; यद्यपि उनका स्कूल मुझे तो नहीं बढ़ा सका, परन्तु बातें अवश्य बढ़ा दीं मेरी। सुनो, वह कहते थे, हमारा सारा गाना हारमोनियम ने चौपट कर दिया।"

"कैसे ?"

"हारमोनियम के एक परदे में एक ही स्वर निकलता है और सितार के एक ही तार में न जाने कितने, गिन ही नही सकता कोई ।"

"एक तार में कई सुर ! यह तो झूठी बात हुई; एक परदे मे एक ही सुर; जाडा हो चाहे गरमी । यह हुई बात, एक ही बात, जो कह दी सो कह दी !"

"लेकिन परदा जो है वहाँ । कौन जानता है उस संदूक के भीतर क्या है ? परदे तो सितार मे भी हैं: लेकिन सब जाहिर, सामने ।"

"तुमने तो एक दिन कहा था पंडितजी स्कूल मे हारमोनियम बजाते थे ।"

"विवशता थी क्या करते बेचारे, हारमोनियम मे आग सुलगी-सुलगाई मिल जाती थी लेकिन, सितार मे फूंक-फूंककर सुलगानी पडती थी ।"

"धौंकनी जो रहती है उसमे," मधुवा बोला ।

"बात कहाँ-से-कहाँ उडा दी तुमने ?"

"तुम्ही ने तो पहिए का चक्कर डाल दिया ।"

"हाँ कम्पिटीशन करेंगे । सिर पर ढोना मूर्खता है । पहिए पर हाथ रखेंगे तो सारा बोझ उतर जायगा । तुम्हारे पिता मूर्ख थे, जो उन्होंने मोटर को देखकर बैलगाड़ी तोड-ताडकर रख दी । मैं कहता हूँ ले आओ उसे, भूमिया के मंदिर मे जोड-जाड लेंगे ।"

"बैल तो बेच दिए ।"

"हल के तो होंगे ?"

"गाडी को पहचानते नहीं ।"

"साध लिये जायँगे । जब हल चलेगा, तब चलेगा । खाली बखत गाडी चलेगी । बह हल मे पहिया नहीं जोड सके, वह गाड़ी से ही जुड़ सकता है ।"

"गाड़ी से कैसे ?"

"गाड़ी से ऐसे, सुनो। किसान खाद्य उपजाता है। खानेवाला जो पैसे देता है, वह हमें पूरे नहीं मिलते। बीच का आदमी सब खा जाता है। खेत से सीधे खाने वाले के मुख तक का जोड़ चाहिए हमें। हल से पैदा किया गाड़ी से पहुँचा दिया। पहाड़ की चीजें देस; देस की पहाड़। आते-जाते दोनों समय पूरा भाड़ा।"

"मोटर का सामना कैसे कर सकोगे?"

"उन्हें पैट्रोल भी तो चाहिए। फिर भी बहुत बच जायगा, बीच के आदमी का हाथ जो रह जायगा। खाद्य उपजाकर किसान पनपा नहीं और उसका व्यापार कर ये पूँजीपति इतने मोटे हो गए। तुम्हारा गाँव निकट ही है। जाकर समझाओ अपने पिता को कि संसार किधर जा रहा है। असली स्थिति किसान की है—उत्पादक की है। उसी को रौंदकर इन पूँजीपतियों ने अपने महल ऊँचे किये हैं।"

"बात तो ठीक है यह।"

"तो चलो गाड़ी उठा लाएं यहाँ, एक-एक पहिया कर। और सुनो, गाड़ी यहाँ ले आयँगे तो कोढ़ी और बाबा दोनों को यहाँ से निकल जाना पड़ेगा। कहेंगे हटो, यहाँ गाड़ी रखी जायगी।"

"उन्होंने धर्मशाला कहा तो?"

"कैसी धर्मशाला? कैसा भूमिया का मंदिर? टूट-फूट कैसे सम्भाली जायगी? उसके साथ कोई खेत या तराजू भी तो होना चाहिए। तुम कहते हो तुम्हारे दादा ने यह धर्मशाला और यह मंदिर बनाया था। यदि इसकी आर्थिक सहायता का कोई प्रबन्ध होता तो आज इसकी ऐसी दशा न होती। भूमिया का मंदिर! बैलों ने गरदन घिस-घिसकर उसका अंजर-पंजर ढीला कर दिया है। धर्मशाला का एक सिरा दबा रखा है इस कोढ़ी ने, जो यहाँ से मोटर स्टेशन तक के पथ में नित्य अपने रोग के कीड़े बिछाता जाता है। क्यों नहीं उसे कोढ़ी खाने में चला जाना चाहिए? दूसरे स्वस्थ लोगों के बीच में अपना रोग फैला देने का उसे कोई अधिकार नहीं है।"

"और दूसरे कोने में जमे हुए हैं वह गुरु घण्टाल, उसे माँगने के लिए मोटर स्टेशन भी नहीं जाना पड़ता। चाय-गाँजा, दूध-चीनी, आटा-चावल, नमक-मसाला उनके चरणों मे अपने-आप पहुँच जाता है।"

"संडा-मुस्टण्डा, क्यो उसे समाज बैठे-बैठे ही खिलाता है? क्या भलाई करता है वह हमारी? बाल बढ़ा लिये उसने, नंगे बदन मे राख मल ली तो इससे क्या हो गया हमारा? चारो ओर इतनी भूमि है, सब बंजर पड़ी है। बाड़-घेर ठीक करता, जानवरों से रक्षा होती। पानी निकट ही है। भूमि खोदकर कुछ बोता—फूल ही उगाता, मन्दिर की शोभा बढ़ती। चारो ओर गन्दा करके रख दिया है और वह कोढ़ी, उससे तो एक खेत नीचे भी नहीं उतरा जाता। चलो, आज ही घसीट लायें यहाँ गाड़ी।"

"आज ही?"—मधुवा कुछ गम्भीरता से बोला।

"क्यों, आज ही क्यों नहीं? गाडी बाहर पडी-पडी सड़ रही है। सड़क में फिर चला देंगे, उसके भाग जाग जायंगे और क्यो नहीं हमारे भी?"

"आज पिताजी से पूछ लूँगा।"

दूसरे दिन लछमियाँ नियुक्ति के अनुसार सीधा मधुवा के गाँव पहुँचा। गाडी बहुत-कुछ टूट-फूट गई थी, परन्तु उसका ढाँचा दृढ़ था, पहिए साबुत और जीर्णोद्धार सहज-सम्भव था। बैलों की जगह जुए को पकड़कर दोनो उसे खींचकर नहीं ले जा सकते थे। टुकडे-टुकडे करके ले चले। मन्दिर निकट ही था और मार्ग प्रायः समतल ही।

दोनों पहिए निकाल लिये गए। एक लुढ़काता हुआ ले चला लछमियाँ और दूसरा मधुवा। दोनों मन्दिर में पहुँच गए।

लछमियाँ बोला—"बारी-बारी से, एक-एक कर। तुम अपना पहिया यहीं पर रख दो। पहले कोढ़ी को खिसकाया जायगा।"

"नहीं, पहले इस पाखण्डी को।" मधुवा ने प्रतिवाद किया।

"जिसे भी कहो, एक ही बात है। एक से हमें तन का भय है, तो

"धर्मशाला ने क्या तुम्हारा ठेका ले रखा है? जब घर वालों और गाँव वालों ने ही तुम्हें निकाल दिया, तो पराई भूमि पर कहाँ से तुम्हारे लिए जगह हो जायगी?"

मधुवा कहने लगा—"कोढीखाने में क्यों नहीं चले जाते?"

"कैसे जाऊँ?"

"रास्ता हम बता देंगे। माँगते-खाते चले जाना।" मधुवा बोला।

"मोटर-स्टेशन तक तो दो-दो चक्कर लगाते हो।" लछमियाँ ने कहा—"हटो, पहिए के लिए जगह करो यह कम्पनी का पहिया है।"

"कम्पनी का कैसा पहिया? यह पहिया तो गाडी का है।"—कोढी बोला।

"पहिया गाडी का है तो क्या हुआ? गाडी तो कम्पनी की है।"

"कम्पनी क्या हुई?"

"कम्पनी नहीं जानते? सब कम्पनियों की दादी—ईस्ट इण्डिया कम्पनी जब भारत-सरकार में बदल गई तो कम्पनियाँ-ही-कम्पनियाँ हो गईं—चाय-कम्पनी, बिस्कुट-कम्पनी, तेल-कम्पनी, साबुन-कम्पनी, चादर-कम्पनी, कम्बल-कम्पनी लोटा-कम्पनी, थाली-कम्पनी, नाई-कम्पनी, धोबी-कम्पनी, आलू-कम्पनी, टमाटर-कम्पनी, चीनी-कम्पनी, गुड़-कम्पनी, सब कम्पनी-ही-कम्पनी, इतनी कम्पनियाँ खप गईं। लछमियाँ की कम्पनी को देखा तो कहते हो, पूछते हो कम्पनी क्या हुई। खिसको, पहिए के लिए जगह करो।" लछमियाँ ने उत्तर दिया।

"कहाँ जाऊँ? तीन साल से यहाँ रहता हूँ?"

"जहाँ जनम काटा, वहाँ से खिसक गए। बीमारी फैलाकर क्या यह गाँव उजाड दोगे? सीधे-से नहीं मानोगे तो पुलिस को बुलाना पड़ेगा।"

• "हाथ पकडकर रख आओ, जहाँ तुम्हारा जी चाहता है।"

"हाथ पकडकर? हाथ पकड़कर क्यों? जब तिपनियों में सिक्के बटोरने जाओगे तो इन बीमारी के चीथड़ों मे दियासलाई दे दी

जायगी।" कहकर लछमियाँ ने दीवार के सहारे पहिया रख दिया—"खबरदार, इस पहिए को मत छूना। चीथड़े-बर्तन कुछ इसमें रखोगे तो ठीक न होगा। कैसी मक्खियाँ भिनभिना रही हैं! यह आकर हमारे नाक-मुख में बैठेंगी तो हमें तुम्हारा रोग लग जायगा या नहीं? तुम्हें तो समाज से दया चाहने के बदले उस पर दया करनी चाहिए।"

कोढ़ी आकुलता से लछमियाँ को देख रहा था।

"हाँ, हाँ, झूठ थोड़े ही कह रहा हूँ। हम लोगों पर दया करो भाई। हमारा दया क्या है? कुछ नहीं। हमारी दया से तुम्हारा रोग जा सकता तो वह दया थी। उससे तुम्हारे रोग में आहुति पड़ती है और कुछ नहीं। सब सच पूछो तो वह कठोरता है। सन्ध्या तक यह सब हटा ले जाओ। अभी गाड़ी लानी है, हमें गाँव से। गाड़ी रखेंगे यहाँ, बैल बाँधने को स्थान चाहिए।"

"कुछ दिन तो रहने दो।"

"नहीं, एक दिन भी नहीं।"

"भाग्य का मारा हुआ हूँ।" कोढ़ी रोते हुए बोला।

वह श्रम के गीत गाने वाला लछमियाँ पहली बार भाग्य के साक्षात्कार में आया—"झूठी बात! भाग्य कोई वस्तु नहीं। अपना पाप समाज के सिर पर लाद देने का एक बहाना। हम क्या करें? लाचार हैं। नीचे के खेत में उस टीले और पेड़ के सहारे बना लो अपनी झोंपड़ी, लेकिन आठ दिन से अधिक के लिए नहीं।"—कहकर लछमियाँ मधुवा का हाथ पकड़कर आगे बढ़ा। विजय के हर्ष से वह उछलता जा रहा था। उसने दूसरा पहिया उठा लिया।

मधुवा बोला—"अब साधु महाराज की बारी आई है क्या?"

दोनों पहिए लुढ़काते हुए धर्मशाला के दूसरे सिरे पर चले। बरामदे में साधु ने अपना आसन जमा रखा था। चारों ओर पत्थर जमाकर उसकी धूनी जलती थी। तीन तरफ पटले पड़े हुए थे भक्तों के बैठने के लिए, सामने वह बैठता था कम्बल बिछाकर। बरामदे के बाहरी

कोने के दोनों ओर उसने टाट लटकाकर परदा कर रखा था।

भूमि पर चारों ओर सजाकर उसके व्यवहार की वस्तुएं पडी हुई थीं। बाईं ओर टाट के कोने मे बर्तन रखे हुए थे। दाहिनी ओर कोने में धर्मशाला की दीवार के सहारे, एक पटले पर कुछ पुस्तकें, एक छोटी-सी थाली मे फूलों से ढकी हुई किसी देवता की मूर्ति और कुछ पूजा का सामान रखा हुआ था। ऊपर उसकी दो झोलियाँ लटक रही थीं। एक छींके पर एक कटोरे से ढका लोटा भी। बाहर के कोने मे खम्भे पर ठुकी कील से गरदन-बँधी लटक रही थी उसकी कड़ुए तेल की बोतल। उसके सिरहाने दोनो ओर कुछ और पोटलियाँ रखी थीं; भीतरी कोने में एक एकतारा और एक जोडा करताल का भी।

धूनी के निकट बीचो-बीच उसने एक लोहे का त्रिशूल गाड रखा था। धूनी के एक ओर चिमटा, चिलम, एक कागज की पुड़िया में तमाखू था; दूसरी ओर उलटी करके रखी हुई धुएँ से काली पतीली और एक के भीतर दूसरा करके रखे गए चार पौवे गिलास।

बाबाजी अकेले ही आसन पर विराजमान थे। वे पतली चिलम हाथ में लेकर लम्बा धुआँ छोड रहे थे। सारे अंग मे विभूत पुती हुई, केवल एक लँगोटी पहने।

लछमियाँ ने पहिया रोककर मधुवा से कहा—"तुम कुछ न बोलना।" मैं ही स्वयं बातें करूँगा वह पहिया लुढ़काते हुए आगे बढ़ गया। उसने चुपचाप बाहर बरामदे के सहारे पहिया रोक दिया। वह कुछ न बोला। उसने राख में घिरी अँगारों-सी बाबा की चढ़ी आँखो को घूरा।

बाबा ने धुँआँ छोडकर कहा—"बम शंकर!"

लछमियाँ की गम्भीरता न टूटी बाबा के इस घोष से।

बाबा ने और भी उच्च स्वर से कहा—"जय शंकर!"

वैसे ही स्वर मे लछमियाँ ने पुकारा—"जय भारत!"

बाबा लछमियाँ की ओर चिलम-साफी बढ़ाकर हँसने लगे।

"हँसने की बात क्या है इसमे? पुराने शंकरजी को रहने दो उनके

ही कैलास में, अब तो नये भारत की जय है।''

"शंकरजी न पुराने है, न भारत ही दूसरा है।"

"भारत 'माता' है।''

"शिव क्या शक्ति से भिन्न है? आओ भगत बैठो। दम लगाओ, तभी तो काई छूटकर कुछ साफ विचार सूझ पड़ेगा।''

"नहीं, हमने गाँजा पीना छोड़ दिया!''

"गाँजा इसमें कहाँ रखा है? पुड़िया झाड़कर जो कुछ होगा, उसे सोख चुका। तमाखू है बढ़िया लखनऊ का। एक सिपाही छुट्टी में वहाँ से आया था। दो-चार चिलम यहाँ आप लोगों के लिए रख गया। लो पियो और बताओ कैसा है।'' बाबाजी ने चिलम कुछ और आगे बढ़ा कर कहा।

लछमियाँ कुछ आगे बढ़कर बोला—''बाबाजी, साफ बात है। पहले भी आपसे कह चुके है, और आज भी। आपको यहाँ से जाना ही पड़ेगा।''

"हर मिनट में बाबा जा ही रहा है भगत। वह जमा हुआ कहाँ पर है? यह जो झोली-पोटली देखते हो यह सब आप ही लोगों की है। मै तो एक चौकीदार हूँ।'' कहकर बाबा फिर हँसने लगा।

"नही बाबाजी!''

बाबा उग्र होकर बोले—''अरे तो चल दूँगा फिर। अभी कहता है तो अभी। उस पेड के नीचे बैठ जाऊँगा। ले, चिलम पीता है तो पी ले, ठंडी हुई जाती है।''

लछमियाँ चिलम लेकर एक पटले पर बैठ गया और दम लगाकर बोला—''गाँजा तो है?''

"आज ही थोड़े पी रहा है।'' कहते हुए बाबा की दृष्टि मधुवा पर पड़ी—''आओ जी, चुपचाप कैसे खड़े हो वहाँ पर? माधो, आओ इधर ऊधो को भेज दिया लड़ाई का मोल-तोल करने। आओ, लो तमाखू पियो।''

लछमियाँ ने उसकी ओर चिलम दिखाते हुए सिर से संकेत करते हुए कहा —"आओ।"

माधव भी बढ गया बाबा के चक्र में पहिए को पीछे छोडकर।

"जय शंकर!" बाबा ने लछमियाँ के फिर दम लगाने पर कहा। चिलम के ऊपर लपट उठ गई थी।

मधुवा पटले पर बैठता हुआ बोला—"जय भारत!"

"तुम भी माधो, नए पुराने के फेर मे पड गए, परन्तु शिव—नया भी नही है और पुराना भी नहीं।"

"फिर क्या है बाबा?" लछमियाँ ने चिलम मधुवा को देकर पूछा। उसकी आँखो मे नशा छा चला था और उसका विचार फैलने लगा था।

"शिव? क्या है? नया भी नहीं पुराना नहीं, वह सदा शिव है। आदि और अन्त के सिरे वाले नए और पुराने पडते है। शिव एक चक्र है। कहाँ से आरम्भ हुआ, कहाँ समाप्त हो पायगा, कोई नहीं बता सकता। आई कुछ समझ मे?"

कुछ समझ मे आई अवश्य लछमियाँ के, वह माथा हिलाने लगा। पर मन मे सोच रहा था—"बाबा ने जाल डाल दिया।"

बाबा साधारण पढ़ा-लिखा था, परन्तु घूमा हुआ बहुत था। बुद्धि और समझ का बडा तीव्र था। आयु पचास के लगभग थी। बात करने मे बडा चतुर था। किसान और बाबू दोनो को बातो से मोह लेता था। बडे सरल शब्दो को लेकर वह आत्मा और परमात्मा का तर्क करता था। श्रोता ऊब नही उठता था और देर तक उसकी व्याख्या में रस लेता रहता था।

"भारत मे जो उसका डोरा काटने लगे हो, क्या बिगाडा है शिव ने तुम्हारा?"

"वह कुछ काम नहीं करते?"

मधुवा ने चिलम बाबा को दे दी। दम लगाकर बाबा ने कहा—"कुछ काम नहीं करते? झूठी बात। सारी सृष्टि जो चला रहे हैं?"

"सृष्टि स्वयं चल रही है।"

"चाबी तो वही देते हैं। देखो, सुनो और समझो भगत। कच्ची ज़बान नहीं खोली जाती भगवान् के लिए। क्या काम कराना चाहते हो तुम शिव से, तुम्हारे नगरों में जाकर व्यापार करें या गाँवों में जाकर खेती करें। अरे वह कुछ नहीं करेंगे, इसीलिए तो उन्होंने हिम पर अपना आसन बिछाया है। लो और पियो।"—कहकर बाबा ने फिर लछमियाँ को चिलम दे दी।

"आपने देखा है शिव को?" लछमियाँ ने पूछा।

"नई सभ्यता जब पुराने नगरों के ध्वंस धरती के भीतर से खोद-कर निकालती है, तो शिव नहीं दिखाई देता क्या? जातियों के युद्ध में जब रक्त-प्रलय जागता है, भूचाल में जब धरती बड़े-बड़े नगरों को निगल जाती है; बाढ़, महामारी और अकाल में जब हजारों गाँव और अगणित पशु-पक्षियों की समाप्ति हो जाती है, तब क्या तुम्हें उसका संहार-ताण्डव नहीं दिखाई देता?"

"ऐसा भयानक देवता? उपासना के लिए!"

"यहाँ भी फिर उसी का चक्र है।"

कैसा चक्र है?" लछमियाँ ने चिलम मधुवा को दे दी।

"संहार पर सृष्टि, सृष्टि पर संहार। रात की खोपड़ी पर दिन और दिन के सिरहाने रात। यही है चक्कर! आया कुछ समझ में?"

"आया महाराज, क्यों नहीं आया?"

मधुवा ने चिलम बाबा की ओर बढ़ाई।

बाबा बोले—"रख दो भगत, बस हो गया। चिलम उलट दो। साफी इसी के ऊपर रख दो।" लछमियाँ की ओर हाथ उठा कर कहने लगे—"हाँ-में-हाँ मिलाने वाला और झूठा तर्क करने वाला दोनों अधूरे होते हैं। पूरे बनो, भगत पूरे।"

"पूरा ही बनने की इच्छा है तभी तो यह चक्र लाया हूँ मैं भी।" लछमियाँ ने पहिए की ओर दृष्टि की।

उसे उपेक्षित रखकर बाबा ने मधुवा से कहा—"माधो, एक भगत आप लोगों की चाय के लिए चीनी और दूध रख गया है। वह पतीली उठाओ तो उबलने को चाय रख दूँ।"

माधव ने काली पतीली बाबा को दी। जल से भरकर उन्होंने उसे धूनी पर जलती हुई लकड़ियों पर रख दिया।

"हम तो अभी चाय पीकर आये हैं।" लछमियाँ ने यों ही कह दिया। बाबा की उपेक्षा से वह क्षुब्ध हो उठा था।

"फिर पी लेना।"

"हमारे चक्कर पर ध्यान नहीं दिया आपने ?" लछमियाँ ने फिर अपनी बात चमकाई।

"यह सब भ्रम है भगत, माया का चक्कर, मनसूबों का फेर !" बाबा बोले।

"तो चेला बना लो हमें भी। मौज करें हम भी।"

"मैं चेले नहीं बनाता।"

"भेंट में हिस्से हो जाने के भय से ? क्यों, आप भगत ही बनाते हैं ?"

"मेरी क्या भक्ति ? भक्ति है भगवान् की।"

"वह तो केवल एक नाम है—निराकार, निर्विकार, बैठे-बैठे माल तो आप ही उड़ाते हैं।"

"मैं बैठा रहता हूँ क्या ?"

"और क्या, तीन शब्द हैं आपके पास जीव, माया और ब्रह्म। जीव और ब्रह्म के बीच में माया का परदा डालकर आप मौज करते हैं। क्या काम करते हैं आप ?"

"मैं सारे संसार का भला सोचता हूँ बैठे-बैठे। जीव-मात्र की मैत्री साधता हूँ।"

"सोचना भी कोई बात हुई ? खाने-पीने की बात क्यों नहीं सोच लेते आप ? हमारा स्वागत क्यों करते हैं आप, खाने की आशा ही में जो खिलाते हैं ? उस कोढ़ी को बुला लाऊँ, आप उसे अपने पास

बिठा लेंगे ! धूनी में मे उसे अपनी चिलम मे कोयले भरने देंगे ?"

"भरने नहीं दूँगा तो क्या हुआ ? उसे निराश नही करूँगा। स्वयं निकालकर दे दूँगा।"

"देख लिया फिर आपका विश्व-प्रेम ! माया को झूठी समझकर आप स्वयं धोखे में फँसे हैं। सुनिए, भगवान् ने हमें आगे बढ़ने के लिए जगत में भेजा है। माया हमारे आगे बढ़ने का आकर्षण है और यह पहिया हमारी चाल तेज करता है।"

"क्या चाल तेज करता है ? तुम्हारा लालच बढ़ाता है।"

"परिश्रम करके धन कमाना लालच नहीं है। लालच तो उसका बढ़ता है, जो बैठे-ही-बैठे दुनिया को खा जाना चाहता है।"

बाबा ने हँसकर कहा—"हम खा जाना चाहते हैं तुम्हारी दुनिया को। क्यों भगत ?"

लछमियाँ ने मधुवा की कोहनी झटककर कहा—"क्यों रे मधुवा ! बोलता क्यों नहीं ? गुम-सुम होकर बैठ गया ?"

माथा पकड़कर मधुवा बोला—"माथा घूम रहा है। जोर का दम लगा दिया।"

"उसका ध्यान छोड़कर बाहरी बातों में लग जा। ठीक हो जायगा।"—लछमियाँ हँसकर बोला।

"हाँ ?"—झूमते हुए मधुवा बोला—"क्या कह रहे हैं बाबाजी ?"

"कहते हैं मै यहाँ से नहीं हटूँगा।"

"हटेंगे कैसे नही ? एक-एक पत्थर अपने सिर पर ढोकर मेरे दादा ने यह धर्मशाला बनाई है।" मधुवा बोला।

"धर्मशाला क्यों रख दिया फिर इसका नाम ?" बाबाजी ने चाय का बंडल निकाला। पानी बोलने लगा था। बाबाजी ने पत्ती छोड़, पतीली आँच पर से बाहर निकालकर ढक दी और बोले—"मुझे कहाँ चला जाने को कह रहे हो तुम ?"

"असल बात यह है महाराज, हम यहाँ एक कम्पनी खोल रहे हैं।"

"कम्पनी कैसी ?"

"एक से दो हो गए तो बस कम्पनी।"

"तीन-चार भी तो हो सकते हैं ?"

"हो क्यों नहीं सकते ?"

"तो तीसरा मैं हुआ।" बाबा बोले।

"आप नहीं हो सकते। आप एक जगह से टस-से-मस नहीं होना चाहते, और हम रात-दिन चक्कर में रहना चाहते हैं। नहीं देख रहे हो वह पहिया।"

"एक से क्या होगा ?"

"दूसरा भी है। गाडी भी है। गाडी में ये दोनों जोड दिए जायंगे।"

"बस तो मैं भी शामिल हो गया !"—बाबा ने पतीली का ढकना खोलकर देखा और फिर बन्द कर दिया।

"आप कैसे शामिल हो गए ?"

"दो पहिए—ऊधो और माधो, दोनो चलते-फिरते, तीसरी गाडी—गडी हुई एक जगह पर जमी हुई मैं। और फिर दो बैल भी तो चाहिएं ?"

"हाँ बैल भी आ जायंगे। उन्हीं के बाँधने को जगह चाहिए इस बरामदे में।"

बाबा चाय बनाते हुए बोले—"जब आयंगे तब आ जायंगे। तब यह जगह मैं खाली कर दूँगा। लो चाय तो पी लो पहले।" बाबा ने तीन गिलासों में चाय भरकर दो गिलास उन दोनों को दे दिए। कुछ चाय पतीली में बच गई थी। बाबा ने ढककर रख दी।

तीनों चाय पीने लगे।

बाबा ने चाय पीते-पीते पूछा—"गाड़ी से क्या करोगे ?"

"माल ढोयंगे।"

"मोटरें जो हैं।" बाबा ने कहा।

"हैं तो क्या हुआ! सभी गाड़ियों को सड़क पर चलने का अधिकार है। मोटरों की घड़घड़ाहट और भोंपू की पों-पों सुनकर सब डर गए! बैल बेच दिए और गाड़ियाँ मिट्टी में मिला दीं।' यह भी कोई बात हुई?"

"बलवान से सभी डरते हैं। बैलगाड़ी अगर मोटर से भिड़ जाय, तो किसकी हानि होगी—साधारण मनुष्य भी इस बात को जानता है।" बाबा ने कहा।

"भिड़ कैसे जायगी? अपनी-अपनी जगह पर सब बराबर हैं। क्या दुनिया दुर्बल की नहीं है? क्या गरीब नहीं चलने पायगा सड़क पर?"

"कुचल जायगा!" बाबा ने कहा।

"कुचल कैसे जायगा? जगत् दुर्बल का होने जा रहा है। बाबाजी, आपको क्या ज्ञात है। ये मजदूरों का परिश्रम हड़पकर पूँजीपति बने बैठे हैं। इनकी पोल खुल गई। ये अत्याचार के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। इनकी अट्टालिकाएँ चोरबाजारी के विजय-स्तम्भ हैं।"

"क्या बक रहा है रे लछमियाँ! वे भाग्य-लक्ष्मी के सुपात्र हैं। वे दीन-दुखियों के रक्षक हैं।"

"वे भक्षक हैं, शोषक हैं। ये भाग्य-लक्ष्मी के सुपात्र हैं और दिन-भर परिश्रम करने वाला अभागा! नहीं, भाग्य नाम की कोई वस्तु नहीं रहेगी भारतवर्ष में। सारी धरती बराबर कर दी जायगी। परिश्रम केवल परिश्रम ही मनुष्य की हैसियत की कसौटी होगा। जो परिश्रम करेगा केवल उसे ही जीने और खाने का अधिकार रहेगा।"

छः

पंडितजी ने भी अपनी चाल का नाम 'आगे बढ़ना' ही रखा था। यद्यपि समष्टि को आगे बढ़ाने का उनका शिक्षा-प्रयोग सफल सिद्ध नहीं हुआ था, जनता उसका परिहास करती थी, परन्तु उनके कुछ ऐसे विद्वान् मित्र थे, जिन्होंने उस प्रयोग को सार्थक बताया था।

उस शिक्षा-प्रयोग के आधारभूत सिद्धान्त पंडितजी के अपने तो कुछ थे नहीं। नई और पुरानी दुनिया के मनोविज्ञान के विश्लेषणात्मक उपयोग के बारे में उनका बहुत अध्ययन था। उसकी सफलता और उपयोग पर उनका विश्वास था अब भी। वह निराश नहीं हुए थे। भारत के अष्टांग योग का भी वह बहुत बड़ा मूल्य समझते थे। उसमें जो धारणा का स्तर था उसी को वह शिक्षा का चरम लक्ष्य मानते थे।

एक मित्र ने एक दिन उनसे कहा—"यदि आप नगर के विद्यार्थियों में अपना प्रयोग चलाते तो सम्भवतः इतना शीघ्र आपको स्कूल न तोड़ देना पड़ता।"

पंडितजी हँसकर बोले—"नागरिकता बहुत-सी जटिलताओं में जकड़ी है। मानसिक उत्थान के लिए अनागरिकता आवश्यक है। बाहर की उलझनें जितनी कम होंगी, उतनी उसे अन्तर्मुख होने में सहायता मिलेगी।"

"अन्तर्मुख होना क्या है?"

"समस्त भौतिक प्रपंच को अभौतिकता में प्राप्त करना।"

"अर्थात् ?"

"अर्थात् उसे मन में प्रकट कर लेना।"

"तब फिर बाहर की भिन्नता कोई वस्तु नहीं है। नागरिकता और अनागरिकता के दो विभाग करने से फिर क्या लाभ है ? जब बाहर को भीतर उपजा लेना आपका इष्ट है तो फिर 'ग्रामों की ओर' इस ध्वनि में कोई तत्व नहीं है। नगर से ग्राम की ओर भागना ऐसा ही है जैसे आप अनुभव की परिपक्वता से खिंचकर बालकालिक विस्मृति की ओर जाते हो या बीसवीं शताब्दी मे आदि प्रस्तर-काल की ओर दौड़ते हो।"

"आप विज्ञान शब्द का अशुद्ध उपयोग कर रहे है। विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान ही विज्ञान की संज्ञा पाने के योग्य है। हल में पहिया जोड़ देने से क्या हो जायगा। धरती माता की उर्वरा शक्ति पेशगी छीन लेना क्या दिवालिया हो जाना न होगा ? गाड़ी के बैल खोलकर भाप के इंजन से उसमे वेग उत्पन्न करके केवल संघर्ष ही तो बढा। जल और आयु में नए मार्ग उत्पन्न करके क्या मानवता चारो ओर से अरक्षित नहीं हो गई ? बिजली और मशीन ने अस्वाभाविकता से लोक-जीवन कलुषित कर दिया, मजदूर नामक एक दीन और दयनीय वर्ग की रचना कर दी। साइंस जन-साधारण के उपयोग के लिए उद्भूत हुई होगी परन्तु बढाया तो इसने जातियों का लालच ही। निर्माण इतना नहीं किया जितना ध्वंस ! खिलाया इतना नहीं, जितना भूखों मार दिया। एक जाति ने दूसरे की प्रतिहिंसा बढा दी।" पंडितजी बोले।

"फिर सभ्यता क्या है ?"

"उस उदात्त मन्त्र का शुद्ध प्रयोग। वह मन्त्र है—'जियो और जीने दो।' ये गगनचुम्बी अट्टालिकाएं, अभेद्य दुर्ग, विशाल नगर, सेना और शस्त्रों से सँभाले गए साम्राज्य, ये राक्षसकाय यानो के दल और ये अणुशक्ति के अनुसन्धान ही क्या सभ्यता की साक्षियाँ हैं ?"

"फिर सारा साहित्य और कला की रसज्ञता ये भी तो एक उलझन ही हैं ?"

"हाँ यदि किसी स्वार्थपूर्ण विचार की प्रचारकला से ये सम्बद्ध हैं, तो निःसन्देह विषवर्द्धक ही हैं।"

"नहीं तो ?"

"नहीं तो आत्म-जागरण के ये सहायक हैं। मन के धनात्मक भावों की उपज के बीज-मन्त्र है। मै साइंस से अधिक कला को मानवता की सहायिका मानता हूँ। पर कला एक साधन है, लक्ष्य नहीं।"

"लक्ष्य क्या है ?"

"बहुत विकट प्रश्न ! फिर भी अपनी मति के अनुसार तुम्हे इसका उत्तर दूँगा। जीवन का लक्ष्य ? जीवन का लक्ष्य है अपने भीतर आत्मा की ज्योति जगाना।"

"अपने भीतर ?"

"हाँ अपने भीतर। इसे घोर स्वार्थ समझते होगे तुम ?"

"हाँ इससे ऐसी ही प्रतीति होती है। मनुष्य समाज का एक अंग है और समाज विश्व का एक टुकड़ा। तुम अपने को उससे उच्छिन्न नहीं कर सकते। यदि कर लोगे तो क्या मस्तिष्क की विकृति के एक उदाहरण न समझे जाओगे ?"

पंडितजी हँसने लगे।

"तुम्हारी अनागरिकता पहले ही मेरे सन्देह का विषय हो गई थी। परन्तु जब तक तुम छात्रों के बीच उस शिक्षा के प्रयोग में घिरे रहे, तुम्हारी मानसिकता मे मैंने कोई भ्रम न समझा। तुम नगर छोड़कर ग्राम की ओर चले। वह तुम्हारा पीछे हटना था, परन्तु तुम वहाँ ग्राम-बालकों को शिक्षित करके उन्हें आगे बढाने के शुद्ध उद्देश्य मे रत थे—वह तुम्हारा अवश्य आगे बढना ही था; क्योंकि पश्चात्-पग होकर तुम भी उनके साथ नगर की ओर चले आते। सामाजिकता खोकर तुम्हारी मनुष्यता कैसे स्थिर रहेगी ?"

"सुधार, सेवा और उपदेश के कार्य सर्वथा एक पाखंड ही समझ पड़ते है मुझे अपने लिए, क्योंकि मेरे पास आत्मा का बल नहीं है।"

"इसीलिए आत्मा का बल संग्रह करने को मैं तुमसे विवाह करने का आग्रह करता हूँ। विवाह एक अस्वाभाविकता नहीं है, मनुष्य की परिपूर्णता है। उसकी सामाजिकता गृहस्थ से आरम्भ होती है।"

"समाज से पहले मनुष्य प्रकृति का एक अंग है। शारीरिक परिपक्वता के साथ उसे मन की प्रौढता भी साधनी है। मित्र मैं नारी का मूल्य समझता-हूँ उसकी कोई घृणा नहीं है मेरे पास। उत्तरदायित्वों से घबराता नही हूँ। वे तो मार्ग की प्रेरणा हैं।"

"एक बात तो यह ठीक ही कह रहे हो।"

"सभी बातें मान लोगे। बिना एक की साधना के अनेक की साधना असम्भव है। पहले अपनी पूर्णता जानना चाहता हूँ।"

"तुम अनेक भाषाओं के पंडित हो। साहित्य ही नही कला के प्रयोग मे भी सिद्धहस्त हो और संगीत, मैं उसका आलोचक और पारखी नहीं हूँ, फिर भी कह सकता हूँ तुम उसकी प्रवीणता भी रखते हो।"

"कहाँ, यह सब एक कृत्रिमता है। मैं स्वयं उन क्षेत्रों मे भटका हुआ हूँ, इसलिए अधिक दिन तक जनता को बहका न सकूँगा। जब स्वयं मुझे कोई मार्ग नहीं दिखाई देता तो अपनी रचना से जनता को कहीं नही ले जा सकता।"

"तो क्या काव्य और कला का भी संन्यास ग्रहण करोगे?"

"हाँ।"

"यह सिड़ीपन है। समाज से हटकर जब कलाकार किसी वस्तु का निर्माण करता है तो वह समाज से ही संबद्ध है। बिना बाह्य जगत से जुड़े तुम कैसे एकांत साध लोगे?"

"अपने गाँव मे जाकर स्वयं खेती करूंगा।"

"सिगरेट और चाय?"

"दोनों छोड़ दूँगा।" क्षणिक गम्भीरता के पश्चात् पंडितजी ने हँसकर कहा—"इन दोनों वस्तुओं को क्या धरतीमाता से प्राप्त न

कर सकूँगा ?"

"व्यसन न समझोगे उन्हे ?"

"आत्मा की अनुभूति मे जितनी देर मनुष्य स्थिर रह सकता है, उसके अतिरिक्त सब व्यसन है। क्या काव्य और कला व्यसन नही है ?"

"मस्तिष्क की मशीन ढीली पड़ती जा रही है तुम्हारी। भोजन के निमित्त खेती, खेती के लिए भोजन, यही अनुक्रम रहेगा तुम्हारा। पुस्तक पढ़ोगे ?"

"नही पुस्तक भी नहीं, समाचार-पत्र भी नहीं। दोनो जंजाल है। मन का भ्रम बढाने के अतिरिक्त और उनका कोई उपयोग नहीं।"

"परन्तु कठिनाई तो यह है, तुम्हे अपना भ्रम नही समझ पड़ रहा है। भगवान् मनुष्य से भिन्न नहीं है। मनुष्य के अध्ययन मे ही उसका निवास है।"

"भगवान् को कहाँ ढूँढने जा रहा हूँ मैं ? मै तो 'अपने' अनुसंधान मे हूँ।"

"एकांत मे ले जाकर क्या तुम्हारा अहंकार तुम्हे अपना परिचय दे देगा ? लोगो के सामने उसे लज्जा आती है क्या ? मेरी समझ मे यदि एकांत ही तुम्हारा लक्ष्य है तो वहाँ साहित्य-कला का निर्माण करो, यदि संसार से विचार का बन्धन भी काट दोगे, तो निःसन्देह तुम पागल हो जाओगे।"

"कर्म से चिंतन अधिक श्रेष्ठ वस्तु है।"

"इन दोनो की संधि अभीष्ट होनी उचित है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता मे इनकी कोई तुलनात्मकता नही है।"

"खेती करूँगा ही, क्या वह कर्म नही है ?"

"शारीरिक कर्म एक तुच्छता है। सभ्यताएं मानसिक विकास की सूचनाएं है।"

"सभ्यता की परिधि से ग्राम का निष्कासन न जाने क्यों तुम्हे प्रिय

हो उठा है। जीवन का सत्य एक सरलता है और सरलता ग्रामो की ओर अधिक है।"

मित्र पंडितजी के उद्देश्य मे परिवर्तन नहीं कर सका, न-जाने कब से उन्होंने निरन्तर विचारो से उसे परिपुष्ट किया था। माता-पिता के भी आग्रह उन्होने विफल कर दिए। इष्ट-मित्रो का भी कहना नही माना। सबसे विग्रह करके वह एक दिन अपने ग्राम-निवास की ओर चल दिए।

तिपनियॉ से बहुत दूर न था उनका गाँव, वही से उनका मार्ग जाता था। मोटर रुकी तिपनियाँ पर।

वे दोनो फिर मिल गए। दोनो के हृदय मे बढ जाने की लालसा थी। परन्तु उन दोनो के मुख विरुद्ध दिशा की ओर थे। एक नगर की ओर दौड रहा था, दूसरा ग्राम की ओर।

मोटर को रुकता हुआ देखकर लछमियॉ बीडी का टुकडा फेंककर उसकी ओर दौडा। उतरते हुए यात्री को पहचाना। वे निकले वही चिर परिचित पंडितजी।

"जय हिन्द, पंडितजी!" बिना हाथ जोडे ही लछमियॉ ने लट्ठ-सा मारा। पहले लछमियाँ सदैव ही उनसे 'पायलागूँ' कहता था।

लछमियॉ को देखकर मुसकाए पंडितजी—"जय हिन्द, लछम! जय हिन्द! अच्छे तो हो?"

"हॉ पंडितजी अच्छा ही हूँ! आप लौट आए नगर से। मै तो देखिए आपके मंत्र के अनुसार बढा ही जा रहा हूँ। घर से स्कूल, स्कूल से तिपनियाँ, तिपनियाँ से नगर, नगर से मोटर, मोटर से रेल और फिर रेल से हवाई जहाज! यही तो बढना है। परन्तु यह क्या, आप तो फिर नगर से ग्राम की ओर आ गए!"

"आगे बढना और पीछे हटना, ये दोनों व्यक्तिगत विचारो के कल्पित अनुष्ठान है। तुम्हे मेरी गति मे प्रगति नहीं दिखाई देती तो मुझे भी तुम्हारा आगे बढना कुछ ऐसा ही दिखाई दे रहा है।"

व्यंग्यपूर्वक लछमियाँ बोला—"फिर खोलोगे क्या स्कूल?"

"हाँ। परन्तु इस बार शिक्षक भी मै ही रहूँगा और छात्र भी मै ही ?"

"तब ठीक है पंडितजी।" लछमियाँ मोटर की छत पर चढते हुए बोला। "कौनसा ट्रंक है ?"

"ट्रंक कोई भी नही है।"

"क्यो ?"

"आवश्यकताओ को बढती हमारा बढना नहीं है। बोझ जितना हलका होगा, क्या हमारे बढने मे सहायक न होगा ?"

"बोझ के लिए कुली जो हैं। बिस्तर तो होगा कोई ?"

"दो कंबल है—एक झोले मे है, दूसरा कंधे पर।"

निराश होकर लछमियाँ नीचे उतरा। मन मे सोचने लगा—"ऐसी मूर्खता का नाम 'पडितजी' किसने रख दिया ?" परन्तु पंडितजी की सौम्यता और कला के आकर्षण थे उस पर। वह उनके निकट आ गया और उनके साथ-साथ उनके गाँव के रास्ते पर चलने लगा।

पंडितजी ने लछमियाँ की ओर दृष्टि डाली। स्कूल छोडने के आठ-दस महीनो मे ही उसमें एक अद्भुत परिवर्तन हो गया था। वेश, शारीरिकता और चेष्टाएं सबमें बदल गया था वह। नीलाम में खरीदे हुए किसी साहब के कोट-पैंट से वह सुशोभित था। कोट के खुले हुए कॉलर के भीतर उसने एक रंगीन अंगोछा लटका रखा था अपनी गरदन पर से। पैर मे पलटनियाँ भारी बूट जमा रखा था। सहज ही परिलक्षित हो रहा था कि वह किधर बढ जाना चाहता था।

लछमियाँ उनके हाथ के झोले और कंधे पर के कंबल को लेने के लिए बढा।

"नही लछम, मै इतना ही बोझ लाया हूँ, जितना स्वयं उठा सकता हूं। इसलिए किसी अन्य सहायता की अपेक्षा मुझे नही है।"

"अच्छी बात है। चलिये फिर कुछ दूर तक आपके साथ चलकर ऐसे ही पहुँचा देता हूँ आपको।"

"तुम्हारी इच्छा। क्या कर रहे हो आजकल ?"

"वही आगे बढ जाने के फेर मे पडा हूँ। मंत्र यह आपने ही दिया है। आपने मन मे एक उथल-पुथल मचा दी है। गाँव के कटघरे मे तो बाहर कर दिया, पर ठीक-ठीक मार्ग नही बताया।"

"मार्ग कैसे नही बताया। यहाँ मजूरी करने लगे हो, गाँव की खेती क्या बुरी है ?"

"मजूरी तो केवल एक-दो दिन के लिए है।"

"चटपटे स्वाद के फेर मे पड गए लछम तुम। कपडो की चमक-दमक मे फँस गए।"

"लेकिन पंडितजी, ये रंग मेरे दिमाग मे आप ही ने उपजा दिए। लछमियाँ अवश्य ही अपने पिता के पद-चिह्नो पर अपनी आँखें बिछाता। आप ही ने उसके सपनों को तोडकर एक दूसरा जगत् उसके सामने रख दिया। क्या आपने स्कूल के मुख्य पाठ संसार के रग ही से नहीं खोले थे ?"

"अवश्य। परन्तु भीतर की ओर, भीतर की ओर बढाने को। रंग को मन में खोलना मेरा उद्देश्य था, वहाँ रंग के खुल जाने पर फिर बाहर उसकी कोई खीच नहीं रह जाती।"

"बाहर के रंगो की पहचान आवश्यक थी। इसी से मन मे कोई रंग नहीं उभर सका। स्वाद चखकर ही तो मन मे कोई उसे उपजा सकता है।" कहते हुए लछमियाँ को कुछ याद आई और उसने जेब से बीड़ी का बंडल निकाला—"लीजिए पंडितजी, बीडी पीजिए।"

लछमियाँ कितना आगे बढ़ गया, यह सोचते ही पंडितजी चकराने लगे। उन्होने बीडी के बंडल के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई।

लछमियाँ बोल उठा—"आप पीते तो है बीडी।"

हँसे पंडितजी—"और तुम कब से पीने लगे ?"

"तभी से। सिगरेट के जिन छोटे टुकडो को आप बेकार समझकर फेंक देते थे, मै उनका अनुपयोग सहन नहीं कर सकता था। मै उनको

बीन-बीन कर रख लेता था और लुक-छिपकर उनका मुख सुलगाकर तमाम धुँआ चूस लेता था।"

पंडितजी के मुख पर बडी ग्लानि के भाव उदित हुए। ऐसा जान पडा मानो उनसे बडी भूल हो गई।

लछमियाँ कहता जा रहा था—"घर पर अभ्यास जारी रखने के लिए पिताजी की चिलम दीवारो के सहारे मिल ही जाती थी। लीजिए पीजिए, अब तो हम मित्र है। न मुझे आपसे न आपको मुझसे कोई भय है। मै तो छिपकर पीता ही था, आप क्यो हमसे छिपाते थे?"

"यह एक दुर्गुण है। तुमसे इसीलिए छिपाता था कि तुम इससे बचे रह सको।"

"फिर पूरी जड तक क्यो नही पी गए आप। धुँआ छिपा दिया, पर धुँए का कारण सामने रख दिया मेरी आँखो के आगे। विचार कीजिए तो पंडितजी सिगरेट-बीडी हमारे आगे बढने की पहचान है। देखिए, रेल कैसा धुँआ उडाती है और उसकी चाल पर तो तनिक ध्यान दीजिए; आलस यह भगाती है, जाडा यह दूर करती है। हिम्मत भी बढाती है और कई रोगो को भी भगाती है।"

"नही लछम, यह महान् भयानक लत है, नशा है, भयंकर विष है इसमे।"

"जब हजम हो गई तो फिर कैसा विष? बीडी कुलियो की वस्तु है। आप पंडित ठहरे। यही एक झिझक आपको बीडी देते हुए मेरे मन मे पैदा हो रही है। परन्तु विश्वास रखिए पंडितजी, जब मैं कुछ और आगे बढ जाऊँगा तो सिगरेट ही पीऊँगा।"

"मै फिर भी तुम्हे यही शिक्षा दूँगा कि इसे छोड दो।"

"गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जब मेरा-आपका था, तब भी आप किसी बात के लिए मना नहीं करते थे। अब हम दोनो आज़ाद है, फिर आप यह कैसी शिक्षा दे रहे है? अब आप अपनी कहिए, आपने छोड दी?"

"हाँ, मै छोड दूँगा।"

"जल्दी मत कीजिए। गाँव में कुछ अड़चन तो पड़ेगी आपको। बड़ा बक्स मँगवाकर रखना पड़ेगा।"

लछमियाँ की बातें तीर-सी लग रही थी पंडितजी को। उनके पीकर फेंके हुए सिगरेट के टुकड़ों की बात ने तो उनका मुख ही सी दिया था। वह मन-ही-मन इस निश्चय पर दृढ होने लगे थे कि सिगरेट पीना छोड़ दिया जायगा।

पंडितजी ने जब बीड़ी की ओर हाथ नहीं बढ़ाया तो वह स्वयं उसे सुलगाकर पीने लगा।

पंडित जी मूक-धीर गति से गाँव की ओर बढ़े जा रहे थे। हाथ का झोला भारी पड़ने लगा था उन्हें।

"मै फिर आपसे कहता हूँ पंडितजी, चाय और सिगरेट जल्दी सीखने की वस्तु चाहे न हो, जल्दी छोड़ने की चीजें कदापि नहीं है। मैंने बड़े-बड़े डॉक्टरों के मुख से सुना है कोई पुरानी आदत एकाएक छोड़ देने से स्वास्थ्य को गहरा धक्का पहुँचता है," लछमियाँ बोला।

पंडितजी ने उस प्रकरण को बदलकर कहा—"फिर क्या करने का विचार है तुम्हारा ?"

"व्यापार करने का। लक्ष्मी का निवास व्यापार ही है।"

"क्या व्यापार करोगे ?"

"पहाड़ की चीजें देस ले जाऊँगा, देस की पहाड़। अभी एक बैलगाड़ी तैयार कर रहा हूँ। कुछ रुपया जमा होने पर मोटरगाड़ी खरीद लूँगा। दूकान भी खोल लूँगा।"

"माता-पिता की सम्मति है ?"

"वे पुरानी लीक पर चलते है और मै आ गया हूँ मोटर की लम्बी-चौड़ी सड़क पर। मैंने एक साथी साझेदार ढूँढ रखा था, मधुवा। पैसे वाला है, पर तिपनियाँ, यह सारी चोट्टो की बस्ती है। इन्होने उसके पिता को बहका दिया है और उसने मेरा साथ देने से इनकार कर दिया है। मैं उस पर दावा कर सकता हूँ या नहीं ?"

"कैसा दावा ?"

"उसने हाँ कहकर फिर नाहीं कर दी।"

"कोई रजिस्ट्री हुई थी।"

"आपस मे तो हमने एक-दूसरे को वचन दिया था। हम क्षत्री के बेटे है, पंडितजी, प्राण जाय पर वचन न जाई। वचन की खातिर महाराज दशरथ ने अपने परम प्रिय पुत्र को वन में भेजकर स्वयं प्राण त्याग दिये। जीवन की दौड़ मे मोटरो द्वारा पराजित कर दी गई उसके पिता की एक बैलगाडी पडी थी।"

"और उस बैलगाडी को तुम कैसे परास्त कर दोगे?" पंडितजी ने पूछा।

"मेरी बात तो सुन लीजिए पहले। सड रही थी वह गाडी। दोनों पहिए उखड गए थे; लोहे को जंग खा गया था और बान पर गौरैयो ने अपनी चोचे मार दी थीं। मैने कठिन परिश्रम करके अनेक जोड-जंतर लगाकर वह गाडी खड़ी कर दी थी। गाडी दे देना उसका वचन देना नही हुआ क्या? जब बैल देने का समय आया तो उसने गरदन फिरा ली। इसी बात पर मै पिताजी से लड पड़ा और गाँव भी छोड दिया।"

"फिर रहते कहाँ हो?"

"भुमिया के मंदिर की धर्मशाला मे। मैं वहाँ भी परिश्रम को कटिबद्ध दो भाग्यवादियो के फेर में पड गया हूँ। आप ही बताइए कौन तुक है कर्म की भाग्य के साथ?"

"मै तुम्हारी बात नहीं समझा।"

"खुलासा यह है, उस धर्मशाला के दो सिरों पर एक में एक साधू और दूसरे मे एक कोढी का अड्डा है। कोई उपाय बताइए कि वह हत्या हटे वहाँ से।"

"धर्मशाला मे तुम्हारा व्यापार तो चल जाय और वे भगवान् का सहारा छोड़ दें?"

"क्या भगवान् का सहारा है ! पक्का व्यापार चलता है उनका, बिना पूँजी और बिना परिश्रम के।"

"लछुम, भगवान् ने तुम्हारे खेत मे अपने आशीर्वाद बो रखे थे। पवित्र श्रम तुम्हारा धर्म था, सन्तोष तुम्हारी सम्पत्ति, दीन-दुखी प्रतिवासी की सहायता, अतिथि का सत्कार तुम्हारा स्वभाव था। प्रकृति के वरदान तुम्हारे सहचर थे, आवश्यकताओ की कमी मे तुम्हारा जीवन सुलझा हुआ था, न शरीर पर फैशन की चित्र-विचित्रता और न थी हृदय मे कूटता और कुटिलता, तुम भीतर-बाहर समान थे। तुम कृत्रिमता से दूर थे और नोरोगता ने कई गुना तुम्हारे सुख बढा रखे थे।"

"घोर दरिद्रता ! पंडितजी घोर दरिद्रता ! कौन कहता है किसान की रोटी मीठी है ?"

"तुम्हारे खेत में यह कटुता सुधारक ने बो दी। उसी ने तुम्हारी रोटी में रूखापन उपजा दिया। तुम चुपडी के फेर में पड गए। तुम्हे सिक्कों की चमक ने आकृष्ट कर लिया।"

"वह सुधारक आपके सिवा और कौन था ? क्या आप ही ने मुझे देश-विदेश के इतिहास और भूगोल के सुनहरे दृश्य नहीं दिखाए थे ?"

"मैं ?" पंडितजी ने चकित होकर अपनी आत्मा के भीतर टटोला, "नहीं भाई, मेरा शुद्ध उद्देश्य तुम्हारा जागरण था, तुम्हारे मनोभावों का उत्थान था। इस प्रकार तुम्हें इन्द्रियो का दास बना देना मुझे कदापि अभीष्ट न था।"

"बढना क्या जागरण का ही मतलब नहीं है।"

"तुम झूठी दिशा की ओर बढ रहे हो। सुनो, सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है। वह मन की एक दशा है, वह मन की ही एक रचना है। शुद्ध आचार-विचार, शुद्ध वाणी और शुद्ध कर्म उसके अंग-प्रत्यंग हैं।"

"आप तो स्कूल मे कहते थे, मनुष्य को मनुष्य से घृणा नहीं करनी चाहिए। फिर यह शुद्ध-अशुद्ध क्या कहने लगे आप ? उन दिनों तो आप कपडे पहनकर दाल-भात उडा जाते थे, अब कहाँ मति बदल गई आपकी ? यह सब पाखंड, सब आगे बढने की रुकावटें हैं। सोचा था, कुछ दूर तक आपके साथ चला चलूँगा।"

"मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है। मेरे साथ मेरे गाँव ही मे चलो। मै भी खेती करूँगा; तुम मेरे सहायक हो सकते हो।"

"गाँव ही मे जब जाना होगा तो अपने ही घर क्यो न जाऊँगा ?" कहकर लछमियाँ लौट जाने के विचार से खडा हो गया।

"जैसी तुम्हारी इच्छा," पंडितजी ने कहा।

"उन दोनो को खिसकाने की कोई तरकीब नहीं बतायंगे आप ?"

"किन दोनो को ?"

धर्मशाला की खोपडी पर बडी गहरी धँसी हुई उन दोनो कीलों को। बिना परिश्रम के ही खा जाने वाले उस साधू और उस कोढी को। एक अछूत होकर वहाँ बीमारी फैलाता है और दूसरा परम पूजनीय होकर वहाँ उपदेशों के स्वाँग रचता है।"

"क्या करता है वह ?"

"मुख मे राम-नाम, बगल मे समझ लो बस।"

"यदि उसके मुख मे राम-नाम है, तो वह साधु है। साधु की निन्दा पाप है।"

"वह साधु है ? पंडितजी आप तो मुझे सिर्फ सिगरेट पीना सिखा सके, उसने खुले-आम गाँजा पीना भी सिखा दिया।"

"तुम दूसरे पर दोष क्यो रखते हो ? अपनी उस दोषग्राहिणी बुद्धि का त्याग करो। तुम कहते हो वह साधु राम नाम भी जपता है।"

"राम-नाम तो जपता है, बीच-बीच मे, प्रायः दिन भर।"

"दिन-भर ?" पंडितजी ने चौंककर पूछा।

"हाँ।"

"तब वह चक्र मे स्थित है ?"

"चक्र मे स्थित होना क्या है ?"

"तुम न समझोगे।"

"इधर आप कई नए-नए शब्द सीखकर आये है। कुछ समझाओ तो सही।"

"सुनो, चक्र काल का मार्ग है। उसमे ठहरना निरन्तर उसकी चेतना रखता है। निरन्तर या कुछ टूट-टूटकर भी 'राम-नाम' के उच्चारण से वह फिर-फिरकर अपने मार्ग मे लौट आता है। राम की ध्वनि वातावरण मे अत्यन्त पवित्र लहरें उत्पन्न करती है। उस दीपक को जलता ही रहने देना उचित है। देखो लछ्मन, वाणी का सबसे बडा पाप दूसरे की निन्दा करना है और कर्म का सबसे बडा कलुष दूसरे से घृणा करना।"

"आप पहले तो पूँजीपतियो की, धर्म के ठेकेदारो की, जमीदारों की, युद्ध की पाशविकता बढ़ाने वाले साम्राज्यवादियों की बडी निन्दा करते थे। आज क्या हो गया यह आपको ?"

"अब मै आगे बढ गया हूँ। अब मैने समझा है, दूसरे की निन्दा करना मेरा ही दोष है। दूसरे के लिए घृणा बढाने से नही प्रेम की वृद्धि से मुझे आत्मा का लाभ होगा।"

"दूसरे से घृणा नहीं करेंगे आप ? उस कोढी को गले से लगा सकते हैं आप ?"

"मन मे घृणा न करूँगा उससे। बडे क्षण-भंगुर उपकरण हमारी देह के सहचर हैं लछ्मन ! क्या हम यह कहते है कि पूरे विश्वास के साथ हम निरन्तर ऐसे ही रहेगे ? भाग्य के लेख को कौन जान सकता है ? कौन कह सकता है, किसी दिन हम भी वैसे ही न हो जायं ?"

"आज आप भाग्य में भी विश्वास करने वाले हो गए, पहले तो आप कर्मवीरता के ही गीत गाते थे।"

"हाँ लछ्मन, मैंने देखा और पाया, व्यायामशाला प्रत्येक को

बलशाली नहीं बना सकती, विद्यालय सभी को विद्वान् नहीं बना सकते और न राज्य की प्रणाली हर घर मे सम्पत्ति भर सकती है। समाज की पंगुता, अज्ञान और अन्धकार का पूर्णतः उच्छेद कोई नहीं कर सकता। मैं अधिष्ठाताओ की निन्दा नही करूँगा, न किसी प्रणाली की। इस निन्दा के पाप से बचने के लिए ही मै भाग्यवादी हो गया हूँ। फिर भाग्यवाद कर्म की भिन्नता नही, उसी का संचय तो है।"

"आप डबल पंडित हो गए है अब, कुछ समझ ही नहीं पडते हैं। तभी आपके लिए नगर मे जगह नही रही और आप ग्राम की ओर भाग चले। नगर में कुछ कर्म कर नही सके और चले भाग्य-वादी बनकर किसान को उल्लू बनाने।"

"जब मै भाग्य को कर्म की ही रचना मानता हूँ तो तुम मुझे भाग्य वादी क्यो कहते हो? सुनो, वर्तमान काल के श्रम का नाम कर्म है और भूतकाल का कर्म ही भाग्य है।"

"वर्तमान काल मे जो श्रमजीवी की दीन दशा है वह उसके भूतकाल की अकर्मण्यता है क्या?"

"भूतकाल हमारे जन्म से पहले भी आरम्भ हो चुका है।"

"फिर उसकी याद क्यो नहीं है?"

"हमारे मस्तिष्क की अपूर्णता ही इसका कारण है। याद न होने से ही उसको न मानना बुद्धिमानी नहीं है। इसी जन्म के बचपन की स्मृति भी किसको रहती है?"

"बस ठीक है पंडितजी, चाचाजी है ही आपके ग्राम में। क्या चिन्ता है? प्रातः-सध्या दोनो समय बिना हाथ-पैर हिलाए पकी-पकाई रोटी मिलेगी।"

"भाग्यवादी की सबसे बडी पहचान उसका स्वावलम्बी होना है। मै स्वयं खेती करूँगा वहाँ जाकर।"

"हल भी चलायंगे आप?"

"हाँ, हाँ, चलाऊँगा।"

"झूठी बात। जात जो चली जायगी आपकी ?"

"मै जात के इस पाखण्ड को नही मानता।"

"मैं पढ़े-लिखे के हल चलाने की बात भी नही मानता। पढने-लिखने से मन बाहरी जगत् से जुड जाता है। किसान की एकाग्रता स्थिर रखने के लिए उसको पढाई-लिखाई से दूर रखना होगा। आपने अपने स्कूल मे लिखाई-पढाई शामिल नहीं की थी, बात तो बडी बढिया थी, परन्तु आपने कला के सपने जो दिखा दिए। वह पढने-लिखने से भी भयंकर वस्तु है। अच्छी बात है फिर, दूर थोडे है आप, एक-दूसरे को देखते रहेंगे हम लोग।"

"अपनी गति का नाम जब हमने बढना रखा है, और हमारी दिशाएँ जब बिलकुल विरुद्ध है तो फिर हम निकट कहाँ रहेंगे ?"

लछमियाँ हँसने लगा—"लेकिन एक बात खूब कही आपने—साधू चक्र मे जमा हुआ है और यह किसान का बेटा लछमियाँ गाडी मे दो चक्र जमा लेने पर भी मूर्ख है। अच्छा, रहने दीजिए साधु को, रौनक तो है उससे धर्मशाला मे। दूर-दूर से भेंट चली आती है और नैवेद्य मिलता है चखने को। पर उस कोढी का क्या करूँ ? साधु भी तो उसको निकालकर बाहर करने के पक्ष मे नहीं है। अछूत समाज की सेवा करता है, इसलिए वह हमारा भाई है, लेकिन वह कोढ़ी ? इसने सारी धर्मशाला विष के कीड़े फैलाकर अपवित्र कर दी है।"

"वह भी समाज की सेवा करता है।"

"क्या राख सेवा करता है ?"

"करता कैसे नहीं ? वह अपनी परवशता से जनता को निरन्तर यह चेतना देता रहता है कि धन-सम्पत्ति, शरीर और स्वास्थ्य क्षण-भंगुर हैं, इस जगत् के सम्बन्ध भी स्वार्थ के है और यह जगत् भी झूठा है।"

अपने अनुभव मे नवीन, नई अवस्था का वह युवक लछमियाँ समझ ही नहीं सका, जगत् क्यो झूठा है।

पंडितजी कह रहे थे—"एक परम सत्य की अहनिश घोषणा करना क्या सेवा नही है ? अपने सर्वांग मे रोग के गहरे और सदैव ही बढते हुए घाव लेकर कोढी हमारे मन मे 'दया' के भाव उपजाकर उसकी पवित्रता साधता है। कोरे उपदेश देने वाले सुधारक से वह कोढी कही अधिक समाज-सेवी है।"

"मतलब आपका यह है कि उस साधु से कोढी अच्छा है।"

"अपनी-अपनी जगह पर दोनो अच्छे है।"

"बस हो गया पंडितजी, दिन भी अच्छा रात भी अच्छी, दोनों अच्छे। मालूम हो गई आपकी पोल। जाइए, पधारिए। फिर भेंट होगी कभी तिपनियाँ के मोटर के अड्डे पर।" कहकर लछमियाँ लौट गया।

पंडितजी ने भी अपने गाँव का रास्ता पकडा और उन्नति के एकात की ओर अग्रसर हो गए। लछमियाँ भी आगे बढ जाने की आशा मे भीड की ओर चल पडा।

वह मन मे सोचता हुआ चला जा रहा था—"साधु और पंडितजी एक ही बोली क्यो बोलने लगे ? जगत झूठा है ? इतना ठोस इतना भारी, इतना मधुर और इतना उजला संसार झूठा कैसे हो गया ? तब सचाई क्या है ? रात को जो सपने दिखाई देते है, तब क्या वे सच्चे है या गाँजे का दम लगाकर बाबाजी जिन पुराणो की ऊटपटाँग बातो का बखान करते हैं, वे सच्चे है ?"

यथासमय लछमियाँ तिपनियाँ पहुँच गया। उसने दूर से देखा, हलवाई की दूकान के पास एक मोटर ठहरी हुई है। यात्री उसमे से उतर गए है। वह जाते-जाते अपने मन मे कहने लगा—"हरी मोटर, यह तो हमदम की जान पडती है।"

हमदम मोटर का ड्राइवर, बडे मजे का आदमी, लाइन-भर मे अपनी उदार और मौजी प्रकृति के कारण प्रसिद्ध था। उसके बाल-बच्चे जोरू-जाँता कहीं कुछ न था। मोटर ही उसका घर था। रात को जाडे के

दिन हुए तो मोटर के तमाम परदे गिराकर वह मोटर की सीट के गद्दे में कंबल बिछाकर सोता था। सडकों के आसपास की दूकानों से ही जब भूख लगी, जब अवसर मिला, कुछ खा पी लेता था।

बडा विनोदप्रिय था वह। प्रत्येक राह चलते और अपरिचित से भी परिहास करने मे उसे कोई झिझक नहीं होती थी। प्रत्येक के दुःख-सुख मे साझा कर लेने मे उसे कोई संकोच नही होता था। जो-कुछ कमाता सब खा पीकर, खिला-पिलाकर बराबर कर देता था। कोई चीज जोडने का उसे शौक नही था। कपडे भी केवल दो जोडी से अधिक न थे उसके पास। एक-दो कंबल सुबह बांध-बूँधकर अपनी सीट के नीचे रख देता था वह। एक लोटा भी वहीं पडा रहता था। मोटर के चक्के के सामने एक दराज ही उसके बक्स का काम देता था। यातायात-सम्बन्धी कागज-पत्रों के सिवा उसी मे उसका बीडी का बडल दियासलाई-पान की डिबिया भी रखे रहते थे। कभी कभी उसका बटुआ भी उसी मे देखा जाता था। एक साबुन की टिकिया एक सेफ्टी भी उसमे रहते थे। मोटर के प्रवेश-द्वार मे जुडे हुए आइने मे देखकर कभी सातवें-आठवे दिन उसकी दाढी भी बन जाती।

मन मे किसी के प्रति वह कोई मैल जमा नही रखता था। जो भी विचार मन मे आया, खट से कह देता था। उसकी प्रकृति से परिचित हो जाने पर कोई भी उसकी बात का बुरा नहीं मानता था।

सब धर्मों के लिए हमदम की मान्यता थी। सूर्योदय और सूर्यास्त के लिए वह हाथ जोडता था—संध्या के दीपक के लिए भी। पहाड को आते-जाते हिमालय की चोटियो को भी हाथ उठाकर वह अभिनन्दन करता था। जो भी मिलता, उसका परिचित होना चाहे न होता, अवश्य उसकी 'जय हिन्द' हो जाती थी।

मोटर उसकी नहीं थी; वह नौकर था। कोई 'मुर्गी' बन गई तो बन गई। अतिरिक्त घूँट चल जाती उसकी; बनाने का लालच न था।

उसमे। सचाई की कमाई मे ही बरकत मानता था हमदम। बात भी ऐसी ही थी।

हमदम—अकेला दम, न उसे आये की खुशी थी, न गये का कुछ गम। 'टमाटर' के नाम से उसने अपने लिए एक चिढ पाल रक्खी थी, प्रत्येक मोटर के अड्डे मे छोटे-छोटे बच्चे उसको देखते ही "टमा-टर! टमाटर!" कहकर उसे चिढाते। हमदम उनके पीछे-पीछे दौडकर कभी गलत दिशा मे पत्थर फेंक देता, कभी झूठे क्रोध से उन पर बडबडाता।

हमदम के गृहस्थी नही थी, पर हृदय मे मोह पूरा था। उसने एक बिल्ली पाल रखी थी, अंबर के रंग की। हलद्वानी मे एक मित्र के यहाँ रख रखा था उसे। उसके लिए दूध और भोजन का भी प्रबंध कर रखा था उसने। चूहो का हिसाब-किताब वह पडौस मे स्वयं कर लेती थी।

बडा अच्छा मैकेनिक था हमदम। मोटर की एक-एक नस-नाडी की स्पष्ट समझ थी उसको। इसका उपयोग वह अपने अन्य भाइयो की सहायता के लिए करने को सदैव ही तत्पर रहता था। कई छोटे-मोटे पुरजे वह स्वयं भी बना लेता था। कहते हैं हमदम पहले किसी रेल के लोको शेड मे भी काम कर चुका था। किसी अधिकारी से एक छोटी-सी बात में लड पडा और नौकरी छोड दी।

तब उसने मोटर-ड्राइवरी सीख ली। कुछ दिन देस मे मोटर चलाने के पश्चात् वह पहाड मे गाडी चलाने लगा। पहाड उसे अत्यन्त प्रिय है। प्रायः दस वर्ष से वह पहाड ही मे है। पहाडी बोली भी वह खूब अच्छी तरह बोल लेता है। पहाड का रहन-सहन भी उसके स्वभाव मे प्रविष्ट हो चुका है। उसके वेश-भूषा और गति-आकृति मे भी यही बात है।

मोटर के नीचे, सीट पर का एक गद्दा बिछाकर हमदम पीठ के बल उसमे पडकर मोटर के तले मे कुछ ठोक-पीट कर रहा था। सब यात्री

उसमे से उतर पडे थे। कोई चाय पी रहा था, कोई खाना-पीना कर रहे थे और कोई बातचीत।

लछमियाँ ने मोटर के निकट आकर कहा—"जयहिन्द हमदम !"

'खट-खट' करते हुए हमदम ने उत्तर दिया—"जयहिन्द, भैया लछमियाँ !"

"आज बहुत दिनो मे दिखाई दिए। यहाँ तो ख़बर उडी थी, तुम पाकिस्तान चले गए।"

हमदम हँसने लगा—"बात असल है मन की। मन मे अगर सफाई और सचाई है, तो सारी दुनिया में पाकिस्तान है। अगर मन मे मैल है, लोभ लालच है, झूठ-बेईमानी है, पडौसी को खा जाने की इच्छा है, तो सारी दुनिया में अँधेरा है।"

"टमाटर जो खाते वहाँ पेट-भर !"

हमदम चिढ उठा—"क्या गंदा नाम लिया, ऐसा हथौड़ा खीचकर मारूँगा कि डेढ टाँग का जानवर बना दूँगा।"

"हमदम भाई !" लछमियाँ ने पुकारा।

"ऐसे गंदे आदमियो से बात नही करता मै।"

"अच्छा, अब कुछ न बोलूँगा। थे कहाँ तुम ? आज इतने दिनो मे दिखाई दिए हो ?"

"बुख़ार मे चित पडा रहा दो महीने, हलद्वानी ही था। आज कुछ ठीक होकर आया था, तो गाड़ी बीमार हो गई।"

"क्या हो गया इसे ?"

"क्या बताऊँ ? पहिया कुछ खराब हो गया। रेंच तो उठाकर दो जरा।"

"कहाँ है ?"

"औजारों के बकस मे; छोटा वाला लाना।"

लछमियाँ ने रेंच निकालकर हमदम को दिया। पेच कसकर हमदम

बाहर निकल आया और लछमियाँ की पीठ थप-थपाकर बोला—"वाह दोस्त ! क्या हाल-चाल हैं ?"

"ठीक ही तो है।"

"गाडी नही हुई तैयार अभी ?"

"गाडी तो तैयार हो गई।"

"सडक पर लाकर चाल नही दिखाई तुमने अब तक उसकी।"

"क्या बताऊँ ? साझी धोखा देकर भाग गया। बैलों की ढूँढ मे हूँ।"

"दो नहीं मिलते तो एक ही बैल की गाडी बना लो।" दमदम ने एक चीथडे से तेल-सने हाथ पोछे।

"एक ही कहाँ से ले आऊँ ?"

"एक ! तुम ख़ुद एक हो तो सही।"

"मैं ही जब बैल बन गया तो गाडीवान कहाँ से लाऊँगा ?"

"गाडीवान हा जब बैल हो गया, तो फिर उसकी जरूरत ही क्या रही ? दाईं-बाईं साइड समझकर लीक-लीक आँख खोल चलते रहना। पैदल को बचाना और मोटर से बचते रहना। आँख खुली और पीछे मोटर के भौंपू पर कान चौकस रखना। वाह दोस्त, जीते रहो, तुम मोटर से कंपिटीशन करोगे ?"

लछमियाँ सिर खुजाते हुए कहने लगा—"कह दूँ फिर ?"

"अगर कुछ गडबड मुँह से निकाला, तो मेरे हाथ मे यह हथौडा है।"

"ठीक हो गई मोटर ?"

"हाँ।"

"क्लीनर कौन है ?"

"कोई नही।"

"मुझे रख लो, कब से कह रहा हूँ।"

"बैलगाडी कंपनी के मालिक हो तुम, मोटर की सफाई का गंदा काम कर सकोगे ?"

"कर लूँगा, ड्राइवर बन जाने की आशा पर ।"

"उस्ताद कहोगे मुझे ?"

"क्यों नहीं ? हर घंटे और हर मील पर ।"

"अच्छा चार आने की पकौडी तो ले आओ। बडी भूख लगी है ।"

लछमियाँ पकौडी ले आया एक पत्ते मे । हमदम ने पत्ता उसकी ओर बढाते हुए कहा—"तुम भी तो लो ।"

लछमियाँ सोचने लगा—'हमदम यह क्या कह रहा है मुझसे ।' उसने इधर-उधर देखा ।

हमदम ने पकौडी खाना आरम्भ किया । फिर उसकी ओर पत्ता बढ़ाकर कहा—"अरे, एक तो खा लो, बडी बढिया है ।"

लछमियाँ मन में कहने लगा—"खाने-पीने मे कौन परहेज है आगे बढ़ने में नगर की ओर । यह तो सब गाँव के पाखंड है, वही चल भी सकते हैं। जब हमदम को उस्ताद मान लिया तो फिर उसके साथ कोई भेद रखना बुद्धिमानी न होगी । जब उसकी मोटर मे नौकरी कर लूँगा तो फिर हम एक हैं। हमदम बहुत अच्छा आदमी है । मन का कितना साफ है, कपडे बढिया नही पहनता तो क्या हुआ ? सबसे 'जय हिन्द' कहता है । माता इसकी पहाड ही की है । भुमिया के मन्दिर को भी हाथ जोडता है । बाबाजी, जो बडे भारी ज्ञानी-ध्यानी बनते हैं, उनके अखाडे मे भी जाकर कभी-कभी गाँजा पी आता है ।"

"अकेले खाते बुरा लग रहा है, लो एक तो ले लो। जूठी थोड़े ही हैं ।"

लछमियाँ ने अपने मन मे समझा, हमदम उसकी परीक्षा ले रहा है। उसने इधर-उधर देखा, कोई उसे नहीं देख रहा था । उसने पास हो जाने का निश्चय किया । उसने एक पकौडी उठा ली ।

मोटर की ओट से मानो हवा में से प्रकट होकर कोढी लाठी टेकता हुआ उनके निकट आ गया ।

लछमियाँ का हाथ कुछ रुका, उसने मनुष्य की घृणा पर विजय पाई और उस कोढ़ी की दृष्टि की उपेक्षा करके पकौडी अपने मुँह मे रख ली। पकौड़ी चबाते हुए वह बोला—"यहाँ कहाँ बढा आ रहा है, यहाँ तुझे पैसे देने वाला कोई नहीं है।"

कोढी ने हमदम की ओर इशारा करके कहा—"जय हो दाता की !"

हमदम भेंट होने पर अवश्य ही उस कोढ़ी को कुछ-न-कुछ दे ही देता था। जेब मे पैसा ही न हो तो उस विवशता की बात दूसरी है। पकौडी खाते-खाते हमदम ने उसे रुक जाने का संकेत किया।

"हमदम भाई, मेरी बैलगाडी का यही कोढी पहला दुश्मन है।"

"तुम खुद अपनी बैलगाडी के दुश्मन हो।"

"मै कैसे हूँ ?"

"तुम शहर के भीतर चाहते हो घुसना, लेकिन हाथों में चाबुक और रास पकडना चाहते हो।" कहते हुए हमदम ने पत्ता खाली करके उससे अपनी उँगली पोछ ली और जेब से एक इकन्नी निकालकर कोढ़ी के आँचल मे डाल दी।

कोढी फिर भी खडा ही रहा।

"जाता क्यो नही अब ? मैने दिया है तुझे कभी कोई पैसा, जो आज दूँगा।"

कोढ़ी ने हमदम से कहा—"इन्हे समझा दो।" उसे हमदम की भलमनसाहत का विश्वास था, उसकी सहायता का भरोसा था।

हमदम ने लछमियाँ की ओर संशय की हँसी हँसते हुए देखा और पूछा—"क्या समझा दूँ ?"

"धर्मशाला के पिछवाडे पडा हूँ। यह नहीं रहने दे रहे है, मेरे पीछे पड गए है। फिर मै कहाँ जाऊँ ?"

"क्यो लछमियाँ, तेरे मन मे दया नहीं है ?"

"फिर मेरी गाडी के लिए जगह ?"

"आग लगाकर ताप ले उससे। कह तो चुका हूं।"

आशान्वित होकर लछमियाँ ने हमदम की ओर देखा। उसने अपने मन मे समझ लिया, वह परीक्षा मे पास हो चुका है।

"खबरदार! अगर कभी इसको छेडा तो। भाग्य का मारा हुआ यह बेचारा, तुम्हे दया नही आती। अब कुछ न कहना कभी इससे।"

"नही कहूँगा।"

"कान पकडो।"

लछमियाँ ने कान पकड़े और आश्वासन पाकर 'जय' कहता हुआ कोढी आगे को बढ गया।

उसके जाने पर लछमियाँ ने पूछा—"हमदम उस्ताद! तुम भी भाग्य को मानते हो?"

"कौन नही मानता? इन भयानक पहाडी मार्गों में जहाँ मोटर के पैर के नीचे भयानक खड्ड हैं और सिर के ऊपर खिसक पडने वाले भारी पर्वत! शाम को जब उनसे बच निकलकर धरती पर सिर रखता हूँ, तो भाग्य को मानना ही पडता है। तुम नहीं मानते भाग्य को क्या?"

"नहीं।"

"अच्छा मान लो। मैं तुम्हारा उस्ताद हूं।"

"भाग्य को मान लूँ?" लछमियाँ आनाकानी करने लगा।

"हाँ मान लो। तुम्हारा भाग्य जाग उठा। लो ये औजार बक्स मे रखो। मोटर के नीचे से गद्दा उठाकर सीट मे जमाओ। वह झाड़न लेकर गद्दी पोछ दो और भौंपू बजाकर यात्रियो को इकट्ठा करो। चलें बहुत देर हो गई।" हमदम ने कहा।

लछमियाँ कुछ क्षण भौचक्का-सा खडा रह गया! उसने हमदम के हाथ से हथौड़ा-रेंच ले लिए।

"हाँ, मैं तुम्हें अपने साथ इस गाडी में क्लीनर रखने को राजी हूँ।"

"कब से?"

"इसी घडी से। तुम्हारे हाथो मे यह तुम्हारी नौकरी का पहला काम है।"

लछमियाँ हर्ष मे डूब गया। उसने दौडकर औजार बक्स मे रख दिये। गद्दा झाडकर सीट पर फिट कर दिया और कूदकर ड्राइवर की सीट मे बैठ गया। उसने बडे ठाठ से चक्के पर हाथ रक्खा और बडी शान से भौपू बजाने लगा। वह मन मे सोचता जा रहा था—"हे भगवान्! तेरी लीला बडी विचित्र है। अभी जरा देर पहले एक बैलगाडी चलाना भी जिसके लिए पर्वत हो रहा था, उसे तुमने एकदम मोटर के चक्के पर बिठा दिया। हमदम मेरा दोस्त और अब उस्ताद—बडा बढिया आदमी है। यह कोठी, जिसे मैं अब तक अपनी बढती का शत्रु मान रहा था—यही मेरी उन्नति का कारण हो गया। कोठी को बचाने के लिए ही हमदम ने मुझे वहाँ से खिसका कर गाडी मे बुला लिया।" उसने फिर भौंपू बजाया—"भौ! भौ!" वह फिर मन मे कहने लगा—"बढ चलूँगा, अब निश्चय बढ चलूँगा। पिता को भी मालूम हो जायगा और पंडितजी भी सुन लेगे बढने वाले इस तरह बढते है।"

"हो गया रे अब, तूने तो झडी ही बाँध दी भौपू की। उठ उधर से।" हमदम की वाणी मे शासन था।

लछमियाँ चुपचाप उतर गया। उस शासन के बन्धन पर उसने गौरव के साथ अपना माथा नवाया।

"लो, यह टीन लेकर पानी ले आओ। एजिन मे भर लो।" हमदम ने अपनी सीट पर बैठते हुए कहा।

सात

. . . . . .

मोटर चली। और जब लछमियाँ ने हैंडल दिया, तब चली। "घर्र्र घर्र्र" होने लगी। लछमियाँ ने हमदम की सीट के नीचे हैंडल रख दिया। ड्राइवर की सीट का द्वार बन्द करके वह मोटर के पिछले मार्ग से उसकी अन्तिम सीट की ओर बढ़ा।

"हाथ हटा लो।" कहकर उसने एक यात्री का हाथ मोटर के पिछले द्वार पर से भीतर की ओर कर दिया और खट से द्वार बन्द कर उसकी चिटकनी चढ़ा दी।

हमदम ने सिगरेट का शेष टुकड़ा फेंककर पेट्रोल की चाबी खोल दी। ऐक्सीलरेटर पर पैर और चक्के पर दोनों हाथ रखकर पूछा—"बैठ गए सब?"

"हाँ उस्ताद, सब बैठ गए, चलो।" लछमियाँ ने पास के यात्री को कुछ दबाकर अपनी सीट पर जमते हुए कहा।

मोटर आगे बढ़ चली। लछमियाँ ने पहले भी कई बार मोटरों के हैंडल घुमाए थे, पर वह सब बेगार थी। मोटर चल पड़ती थी, परन्तु वह जहाँ का-तहाँ ही पड़ा रह जाता था। आज वह हैंडल देकर स्वयं भी गाड़ी में बैठा और जब उसने "चलो" कहा, तब मोटर चली।

मोटर में लछमियाँ कई बार बैठा था। पर सदैव ही पैसे देकर या मुर्गी बनकर कहीं ओने-कोने में लुका-छिपा और झिझका-सिमटा। आज

वह मोटर में अधिकार पाकर बैठा है। उसके आनन्द की सीमा न थी, उसके हर्ष का ठिकाना न था।

मोटर धीरे-धीरे चली। वही कोढी हाथ बढाकर मार्ग मे खडा था। लछमियाँ ने जेब मे हाथ डालकर देखा। कोढी को दो-चार पैसे देकर उसका सद्भाव पा लेने की उसकी प्रबल इच्छा हो गई थी, पर उसमे कुछ भी नही था। उसने जल्दी से बीडी का बंडल निकाला और उसमे से आधी से अधिक बीडियाँ निकालकर कोढी के सिर पर बरसा दी।

धीरे-धीरे मोटर की गति बढ चली। पहाडो के घूमो पर नाचती हुई, उनकी ऊँचाइयो पर चढती-उतरती मोटर आगे बढ चली। लछ-मियाँ मन मे सोचने लगा—"आज दो साल बाद सचमुच मै बढ चला। बढ ही नही रहा हूँ, अब तो तनखा भी मिलेगी। हमदम बडा बढिया आदमी है। मुझे उसके न्याय का विश्वास है। मैं क्यों उससे तनखा की उलझन पैदा करता। जो भी दिला देगा, मुझे स्वीकार होगा और वह उचित ही दिलायगा।"

गाडी घरघराती हुई चली। लछमियाँ यात्रियो की चहल-पहल के बीच मे सोचने लगा—"कहाँ वह पंडितजी की बनाई दीवार पर मोटर की तसवीर, कहाँ यह सडक पर चलने वाली साक्षात् हमदम की मोटर। उसे पंडितजी का वह गीत याद आ गया। वह गुनगुनाने लगा—

"बढ चलो, बढे चलो, नव जवान बढ़ चलो।
है जगत नया, नवीन आसमान बढ चलो।"

एक सहयात्री कुली ने, जो उसकी बगल मे बैठा था, पूछा—"कहाँ जाओगे, कहाँ से आ रहे हो?"

लछमियाँ ने घूरकर उसकी ओर देखा—"बडे मूर्ख हो जी, इतना भी नही पहचान सके अभी तक। हम कहाँ से आते-जाते हैं। इसी गाडी मे नौकर हूँ, क्लीनर हूँ।" लछमियाँ ऐसे जमकर बैठ गया मानो कई साल का पुराना नौकर है। उसने उपेक्षा से उस कुली की ओर

से मुँह फिरा लिया। कुली को फिर और कुछ बात करने का साहस नहीं हुआ।

क्लीनरी मे और किस पूर्वानुभव की आवश्यकता थी। मोटर का एक कुली ही तो हुआ वह, ड्राइवर के पुकारने का एक सहारा-मात्र। यात्रियों का माल मोटर पर रख दिया, उतार दिया। मोटर मे पानी-पेट्रौल भर दिया, झाड-पोछ कर दी। हैंडल घुमा दिया, पम्प कर दिया, बस यही तो। तिपनियाँ मे लछमियाँ इन सब कामो मे पारंगत हो गया था।

दूसरे दिन सन्ध्या-समय अपने तीस घंटो की नौकरी सफलता के साथ बजाकर लछमियाँ मोटर के साथ फिर तिपनियाँ मे आ पहुंचा। गाडी फिर मार्ग मे बिगड गई।

"अब आगे जाने का समय नहीं। रात का पडाव यहीं होगा क्लीनर साहब!"—हमदम ने कहा।

"मैं तो रास्ते-भर यही मनाता आ रहा था।"

"क्यो?"

"धर्मशाला मे मेरे कम्बल, लोटा और कपडे पडे है। कल आपने जाने ही नहीं दिया था। अब ले आता हूँ। छुट्टी दीजिए।"

अँधेरा होने से पहले ही आ जाना।"

"घर भी तो जाऊँगा। माँ-बाप को भी तो अपनी नौकरी का समाचार दे देने चाहिए न! देर हो गई तो फिर प्रभात समय छः बजे स पहले आजाऊँगा।"

"चाय तो पी जा!" हमदम ने कहा।

लछमियाँ ने एक न सुनी। वह बिना कुछ कहे-सुने गाडी सडक पर छोडकर धर्मशाला की पगडंडी पर उतर गया।

सीधा सबसे पहले वह कोढी के निकट गया। ऐसी भावुकता से भरा वह कोढी के पास पहले कभी नहीं गया था।

अपनी झोंपड़ी के बाहर आग जलाकर कोढ़ी कुछ गुनगुना रहा था।

लछमियाँ के बूटो की खट्-खट् सुनकर उसने अपनी गुन्जार तोड दी।

"क्यो दोस्त, तुम भी गाना गाते हो? कौन-सा गीत गा रहे थे? सिनेमा का क्या?

"सिनेमा का गीत क्या गाऊँगा मैं! मै गा रहा था मौत का गाना।"

"वह भी क्या गाने से रीझती है! लेकिन मेरा काम सध गया। प्रत्येक अँधेरे मे सितारा चमकता है। मै तुम्हे अपना दुश्मन समझता रहा था, अन्त मे मेरे काम तुम्हीं आए।"

कोढ़ी ने किसी गौरव-प्राप्ति का भाव मुख मे नही उपजाया, वरन् कुछ संशय मे भरकर ही उसने कहा—"लेकिन एक बात ठीक नहीं।"

"कहता क्यो नही? रुक क्यो गया? कौन-सी बात ठीक नहीं है?"

"तुम्हारा और हमदम का साथ!"

"मेरा और हमदम का साथ!" लछमियाँ क्रोध मे भर गया—"हाँ मेरा-हमदम का साथ! मै उसके साथ उठता-बैठता ही नहीं खाता-पीता भी हूँ। क्या बुराई है उसमे? तेरे भीतर से हिन्दू-समाज के कोढ को बोलता हुआ मैं पा रहा हूँ? अंग सडकर तेरे कीडे पडे हैं। सारा जगत् तेरी छाया से बचता है। तेरे सगे-सम्बन्धियो ने अपने नाते काट लिये। सारी सृष्टि घृणा करती है तुझसे और तुझे मेरा और हमदम का साथ सहन नही होता।"

"मेरा मतलब है।"

"चुप रह तेरा कोई मतलब नहीं है। मै सब जानता हूँ। हमदम मेरा भाई है, उसने भाई से भी बढकर प्रेम दिखाया है। और तेरे ऊपर क्या कम कृपा की है उसने? यह हमदम की ही दया है कि मै अब इस धर्मशाला से तुम्हे निकलवाने के लिए यहाँ नही रहूँगा। तू मौज से बेखटके यहाँ रह।"

"क्यो, तुम कहाँ जाओगे?"

"हमदम के साथ। यदि हमदम के साथ का विरोध करेगा तो

फिर यहीं आकर इस बार तेरा तवा-तसला फेंककर ही मानूँगा। मैं उनकी गाडी का क्लीनर हो गया हूँ।"

"मुझे क्या मालूम था। गलती हुई मुझसे, माफ करना।"

"अब तू बेखटके पडा रह। और यह हमदम की ही कृपा है कि उसने तेरा काँटा उखाड दिया।"—कहता हुआ लछमियाँ बाबाजी के आसन की ओर बढा।

वहाँ पर सन्ध्या के रंग जमे हुए थे। भक्त-मंडली एकत्रित थी। धुँआ उड रहा था, धूनी सुलग रही थी और चाय उबल रही थी।

बाबा बोल उठे—"आओ जी भगत, जयशंकर! कल तो तुम्हारे दर्शन ही दुर्लभ हो गए। क्या गाँव चले गए थे "

"नहीं महाराज, चला गया था नौकरी पर।"

"कैसी नौकरी ?" बाबाजी ने लछमियाँ के हिस्से का एक गिलास पानी की पतीली मे और छोडते हुए पूछा—"कहाँ हो गए नौकर ?"

"मोटर मे, हमदम की मोटर में! क्लीनर!" संघ मे प्रविष्ट होते हुए लछमियाँ ने बडे उल्लास के साथ कहा—"अब बढ चला हूँ महाराज, असली बढती! लम्बाई में नहीं बढ़ रहा हूँ, ऊपर आकाश की ओर भी।"

एक भगत चिलम का लम्बा धुँआ छोडते-छोडते चौका—"ऊपर आकाश की ओर भी ?"

लछमियाँ ने उत्तर दिया—"हाँ पहले भूमि पर बैठकर खाना खाता था, अब ऊपर हवा मे मेज पर खाने लगा। जब और भी आगे बढ जाऊँगा तो हवाई जहाज पर!"

भगत ने दूसरा दम खींचकर कहा—"वाह! आदमी उन्नति करे तो ऐसी। कल तक मजदूर था, आज क्लीनर हो गया, कल को ड्राइवर हो जायगा और फिर परसो को मोटर का मालिक! वाह लछमियाँ शाबाश! लो दम लगा लो।"

लछमियाँ ने कृतज्ञता दिखाई और चिलम लेकर दम लगाने लगा।

बाबाजी बोले—"लालच के पेड में केवल पत्ते-ही-पत्ते ! फल तो सबसे मीठा सन्तोष के ही पेड में लगता है।"

"चारों ओर से पूरी-प्रसाद, फल-फूल आपके पास अपने-आप आकर इकट्ठा हो जाता है, क्यो न आपको संतोष हो। दाम न मजदूरी, कुछ भी देनी पडती तो कितनी बीसी का सैकड़ा होता है, यह आपको पता चल जाता !" लछमियाँ ने उत्तर दिया।

बाबा हँसने लगे—"देखो भगत, ज्ञान बहुत बारीक वस्तु नही है। सृष्टि का एक नियम है, उसे समझना कठिन नही है, प्रत्येक समझता है।"

"क्या है महाराज ! वह नियम ?" एक भक्त ने जिज्ञासा की।

"उस नियम को अपने स्वभाव मे समा लेने की ही कठिनता है। स्वभाव क्या है, कुछ दिन का अभ्यास ही तो।"

"लेकिन बात तो रह गई।" वही भक्त फिर बोल उठा—"नियम तो बताइए।"

"हाँ वह नियम है, जब हम किसी वस्तु को पकडने के लिए बढते है, तो वह हमसे भागती है। यदि हम उससे खिंच जायं तो फिर वह हमे पकडने को दौडती है।"

"वाह ! गुरु महाराज ! क्या ज्ञान की पोटली खोल दी ! साधु-संत कभी-कभी मौज मे आकर ही तो गुदडी मे से लाल दिखा देते हैं।" दूसरा भक्त बोला।

"कौन नहीं जानता इस बात को कि जब हम छाया को पकडने जाते है, तो वह हमसे भाग जाती है और जब हम उससे पीछा छुडाते है तो वह हमारा ही अनुकरण करने लगती है।" बाबाजी बोले।

"आगे बढकर उसे पकडे तो भी कोई हानि नहीं, उससे भाग जायँ तो भी हर्ज नही। हम उसे पकडने दौडें और वह हम पर झपटे, तो बस एक्सीडेंट तभी होते है।" लछमियाँ बोल उठा।

सब हँसने लगे।

"मन में किसी इच्छा का उपजाना ही हमारे दु.खों का आरम्भ है। इच्छा ही लालच है।"

"कदापि नहीं महाराज!" लछमियाँ ने उत्तेजना से उठकर कहा—"इच्छा ही तो शक्ति है। वही तो आगे बढाने का साधन है। वही तो एंजिन है।"

"आगे बढना पीछे हटना है।" बाबाजी ने प्रत्युत्तर मे कहा।

"और पीछे हटना क्या आगे बढना है?"

"निःसंदेह, ज्ञान की दृष्टि यही कहती है।" सौम्यतापूर्वक बाबाजी बोले।

"तो आपका अर्थ यही हुआ, लछमियाँ पीछे हट रहा है, क्योंकि वह नगर की ओर जा रहा है और गाँव की ओर को धावमान पडितजी आगे बढ रहे है!"

"कौन पंडितजी?" एक भगत ने पूछा।

"होंगे कोई।" दूसरे ने उसकी बात.काट दी।

"आप कहाँ पर है बाबाजी?" लछमियाँ ने पूछा—"आगे बढ रहे हैं, या पीछे हट रहे हैं?"

"क्या बताऊँ लछम! मै कुछ भी नहीं हूँ।" बाबाजी को कुछ याद आई और वह जपने लगे—"सीताराम. सीताराम!"

"इस रटन से कोई ताला नही खुल सकता।" लछमियाँ बोला—"बताइए, कहाँ पर है आप?"

एक भगत ने कहा – "न आगे बढते हैं और न पीछे मुडते है। एक आसन मे जमे हुए है।"

"क्या खाक जमे हुए हैं? लछमियाँ ने तो इनका आसन हिला दिया था। पर अब बात ही कुछ दूसरी पैदा हो गई है।"

"जमा हुआ तो नही हूँ, अटका हुआ हूँ भाई!" बाबाजी बोले।

"तो फिर बढ़ने वालो का तिरस्कार न कीजिए। अटके रहिए यहीं पर बेखटके। लछमियाँ अब आपको यहाँ से आगे बढ़ने या पीछे हटने

किसी गति पर विवश न करेगा।" लछमियाँ अभी बैठा न था।

"हम तिनके की भाँति इस लोक व्यापी महाकाल के महासागर में हैं। हे राम! हमें पार करो।"

"राम भी तो वन में पिछड़कर ही आगे बढे।" एक भगत ने कहा।

"पार जाने के लिए राम को भी निषाद की नाव का आसरा देखना पड़ा।" लछमियाँ बोला।

"चुप रे लछमियाँ, भगवान् के विरुद्ध बोलता है, सत्संग मे।"

"क्या विरुद्ध बोलता हूँ? इच्छा की क्यों बुराई करते है बाबाजी! जिस पीछे हटने को आप आगे बढ़ना कहते हैं, उसके लिए भी एक इच्छा ही आप पैदा करते है। यहाँ पर जो आप बैठे है, क्या वह किसी इच्छा का ही परिणाम नही है?"

बाबाजी ने हँसकर कहा—"तुम इस आसन पर बैठ जाने को तैयार हो? मै इसे तुम्हारे लिए खाली किये देता हूँ।"

"भेट की धारा इसी प्रकार बहती रहेगी? इस बात को यदि आप पक्का कर दें?" लछमियाँ बोला।

"यह सब मेरे लिए नही आती। अगर इसे बाँट देने के विचार से बैठोगे तो आयगी, इसे निश्चित समझो। बैठो, उत्तेजना मे न आओ। चाय पियो।"

"बस अब आप ही बैठिए। मै चला।" लछमियाँ जाने लगा।

एक भक्त ने उसे रोक लिया।

"नहीं, मुझे अपने गाँव तक जाना है। शाम हो चली, रात हो जायगी। गाडी मे कोई नही है। माल लदा है। रात ही मे लौटकर मुझे आ जाना है। नई नौकरी हुई।" लछमियाँ ने हाथ छुडा लिया।

"फिर चाय बन जाने मे देर ही क्या है।" बाबाजी ने आग्रह किया।

"प्रसाद का तिरस्कार नही किया जाता।" भक्त ने इस बार लछमियाँ का हाथ पकडकर उसे फिर बिठा ही दिया।

चाय का सबसे पहला गिलास बनाकर लछमियाँ को ही समर्पित किया गया।

लछमियाँ ने ज्यो ही मुँह मे चाय की पहली घूँट ली, त्योही मुँह बनाकर वह उठ खडा हुआ, 'पच्च' से थूक दिया। और सारा गिलास उलट, धूनी मे पटककर अपने गाँव को चल दिया।

सारी मडली लछमियाँ की इस गति-विधि पर चकराकर रह गई। चाय बनाने वाला भगत बोला—"कैसी भौहों के ऊपर सरकती जा रही है इसकी आँखें? अवसर देखता है, न समाज। जंगली और अशिष्ट! महाराज क्या कहेंगे, इसकी भी कोई परवा नहीं।"

महाराज का नम्बर चाय पीने का आया। उन्होंने भी चाय की घूँट मुँह में लेते ही फेंक दी—"राम! राम! अरे भगत, तुमने यह क्या कर दिया?"

हाथ जोडकर भगत बोला—"क्या हुआ महाराज!"

तीसरा गिलास जिसे मिला था उसने अपनी अधीरता को विराम देकर बाबाजी की ओर देखा।

चौथा गिलास बाँटने वाले के हाथ ही में रह गया!

बाबाजी ने भेद खोला—"एक पुडिया मे पिसा हुआ नमक रखा था। भगत, वह सब तुमने चाय मे उलट दिया।"

लछमियाँ खटाखट उतरता हुआ चला जा रहा था अपने गाँव के मार्ग में। अभी तक उसका थूकना जारी ही था। कोट की चारो जेबो में हाथ डालकर उसने टटोला। लौंग का फूल तो नहीं मिला। एक मूँगफली हाथ लग गई। छीलकर मूँगफली के दाने मुँह में डाले। वह भी सडी निकली। नए सिरे से फिर थूकना आरम्भ हुआ।

वह बडबडाता हुआ जाने लगा—"इतनी चीज-वस्तु आती है बाबाजी के यहाँ, पर इन्तजाम नहीं है कुछ भी। सब-के-सब मालिक ही बन जाते हैं वहाँ।"

गाँव के आधे रास्ते पर उसे घोडे पर चढे आते हुए पटवारी जी

मिले। लछमियाँ थूकना बन्द कर चुका था, पर उसने फिर चाय और मूँगफली की स्मृति जगाई और 'खाक्' कर मार्ग मे एक ओर थूक दिया।

पटवारीजी ने घोडे की रास मार्ग के एक ओर खीच ली और लछमियाँ क लिए रास्ता बना दिया।

लछमियाँ ने जाते हुए उनको घूरकर देखा।

पटवारीजी बोले—"जय हिन्द !"

कटु मुखाकृति से लछमियाँ ने उत्तर दिया--"जय हिन्द !"

"कहाँ से आ रहे हो, आज बहुत दिन मे दिखाई दिए ?"

लछमियाँ एक क्षण के लिए भी नहीं रुका, जाते-जाते ही उसने उत्तर दिया—"नौकरी पर से आ रहा हूँ, और कहाँ से आ रहा हूँ ?"

पटवारीजी ने चाबुक लगाकर घोडा बढा दिया।

लछमियाँ मन मे कहने लगा—"यह मुझे नथ की चोरी लगानेवाला, आज मुझसे 'जय हिन्द' कहता है। यदि कुछ भी 'चीं-चपड' करता तो मै घोडे से इसकी टाँग खीच नीचे घसीट देता। मैने थूक दिया उस पर !"

पन्द्रह मिनट बाद लछमियाँ अपने गाँव मे पहुँच गया। उसके पिताजी ने आँगन की दीवार मे बैठकर तमाखू पीते-पीते कहा—"लछमियाँ की माँ, पूरी-प्रसाद बना लेना। वह आ ही गया आज, जान पडता है उसकी जेबें खाली हो गईं। वह बड़े ठाठ से हाथ थिरकाते हुए आ रहा है, लाट साहब के बेटे की भाँति।"

पत्नी दौडती हुई भीतर से आँगन मे चली आई—"तुम्हे सौगन्ध है मेरी जो तुमने उससे आधी बात भी कही। मै जरूर उसे आज पूरी-हलवा ही खिलाऊँगी। देखो न पधानजी की गृहिणी की नथ घर ही में मिल गई। मेरा बेटा लछमियाँ, यह स्कूल जाने से ही सुधरा। पढ़ा-लिखा न हो इसने वहाँ, गुना अवश्य है। मैं कहती न थी मेरा लडका चोर नहीं हो सकता।"

"यही सुनकर वह अपने उजलेपन की साक्षी देने चला आया है अपना क्रोध भुलाकर। उसकी चाल से यह प्रकट हो रहा है मानो वह बड़ी भारी लड़ाई जीतकर आया है।"

"मै पधानजी के घर उसे ले जाकर अभी अपने बेटे का उजला मुख दिखाऊँगी।"

पत्नी के वाक्य मे प्रभावित होकर पतिदेवता भी बेटे का स्वागत करने के लिए खड़े हो गए।

लछमियाँ ने आँगन मे प्रवेश करके माता-पिता को अभिवादन किया।

"शाबाश बेटा, जीते रहो।"

लछमियाँ ने उस अतिरिक्त शाबाशी का अर्थ लगाया और पूछा—"आपसे किसने कहा?"

"पधान जी स्वयं हो दौड़े-दौड़े मेरे पास आये। बड़े भले आदमी हैं बिचारे।"

"वह भी प्रसन्न हो गए?"

"बात ही ऐसी है।"

"और तुम?"

"हम क्यो न होगे बेटा? तुमने हमारा मुख उजला किया।"

"मैं क्लीनर जो हो गया? क्लीनर के माने साफ करने वाला।"

पिता के मुख मे अबूझ पहेली-सी चमकने लगी—"कैसा क्लीनर?"

"मोटर का, और कैसा? यह सब हमदम की कृपा है। न कोढी धर्मशाला मे अड़ा होता, न हमदम मोटर के चक्के पर; और न आता इस लछमियाँ के हाथ मे हैंडल! "खट्ट, खट्ट, खट्ट! घर्र्र्र्र! घरर? घरर्घरर्! पौं! पौं! पिताजी—भौं! भौं!"

"इसके क्या माने हुए?"

"इसके माने हुए लछमियाँ आगे बढ़ गया। आगे बढने के माने उसे नौकरी मिल गई और नौकरी मिल जाने के माने उसे सब-कुछ प्राप्त हो गया। अब वह न रूखी रोटी नमक के साथ खायगा और

न गुड़ की डली हाथ में लेकर फीकी चाय पियेगा।"

"मैं तो नथ मिल जाने की प्रसन्नता की बात कह रहा था। नथ मिल गई, पधानजी की श्रीमती की नथ मिल गई।"

"कहाँ मिली?"

"घर के भीतर ही। जाने किसने गड़बड़ा दी और फिर मिल गई! तुम्हें सानने लगे थे, देखो न!"

"मेरे नौकर हो जाने से तुम्हें सन्तोष हुआ?"

"नहीं बेटा!" पिता ने उदास मुख करके कहा—"नहीं बेटा, मोटर की नौकरी! हर बखत जोखम, एक-एक चाप पर भय!"

"ऐसा सब डरपोक सोचा करते है, जो संसार के संघर्ष मे भाग नही ले सकते। मौत कहाँ नहीं है? मनुष्य मृत्यु के सहारे ही तो जीवित है। अजी पिताजी, आप तो बैलों को हाँककर दिन पूरे करते हैं, आप चक्के की महिमा क्या जानें!"

माता अब तक चुपचाप बेटे की बातें सुन रही थी। बेटे की नौकरी पर वह फूली न समाईं—"चलो बेटा, भीतर। तुम्हें भूख लगी होगी।"

"हाँ तुम कुछ प्रसाद भून लो। मैं अभी अपने निर्दोष बेटे को पधानजी को दिखा लाता हूँ। चलो बेटा!"

पत्नी भीतर चली—"शीघ्र आना, देर न करना।"

पिता पुत्र को लेकर पधानजी के यहाँ को चले। पधानजी की पत्नी बैठक में कड़ुए तेल का प्रदीप्त दीपक आधार मे रखकर भीतर को जा रही थीं। पधानजी संध्या-वंदन के लिए कपड़े खोल रहे थे।

पिता ने लछमियाँ को मार्ग मे सीख दी—"बेटा, तुम उनको कभी हाथ नही जोड़ते। बिगड़ा क्या है, बड़े आदमी हैं, पूजनीय हैं।"

"सब बराबर हैं। मनुष्य की पूजा मनुष्य के द्वारा? नहीं, हो नहीं सकती। लछमियाँ ऐसे पाखंड नहीं पालता।"

"हमारे मालिक हैं।"

"हम क्यों नहीं उनके मालिक हैं? हम धरतीमाता के श्रेष्ठ वरदान लेकर उनके खत्तो मे जमा करते है।"

"बिगड क्या जायगा तुम्हारा उनसे पायलागूँ कहने में ? आशीर्वाद देंगे, पुण्यात्मा हैं।"

"हो क्या जायगा उस आशीर्वाद से ? न ओढने का, न बिछाने का? न भूख ही उससे जा सकती और न प्यास ही के मिटने का भरोसा है।"

"एक बात परम्परा से चली आई है। मेरे पिता ने उनके पैर छुए और मैं भी सदैव उनके पैर छूता आया हूँ।"

"तोड दो इस परम्परा को, यह सिक्का घिस गया। इसके अंक मिट गए, यह अब नहीं चल सकता। आशीर्वाद एक कोरी गप है। इतने वर्षों से उनके आशीर्वाद जमा करते जा रहे हो। उनसे क्या फल मिला है ? वही टूटा तवा और फूटा तसला तुम्हारी संपत्ति है। ओढ़ने को फटा गूदड और बिछाने को पुआल ! आपकी गुलामी अब आप ही तक समाप्त हो गई। आपकी सन्तान अब उसे जारी नहीं रख सकती।"

"गुलामी कैसी ? यह तो आश्रय है, सहारा है।"

"यह नंगा ही रख देने वाला कैसा आश्रय है, भूखा ही सुला देने वाला कैसा सहारा है। सी-सीकर कब तक लज्जा ढकेगी और बीन-बीनकर पतीली कब तक भरेगी !"

"तुम यह फैशन की बात कहने लगे। उससे क्या होता है ? रोटी सिकी होनी चाहिए, मशीन की कटी होने से क्या होता है। किसान की सम्पत्ति संतोष है।"

"इसी शब्द से उसे मूर्ख बना दिया गया है। यह पौरुष-हीन व्यक्ति का उन्माद है। तुम्हें सन्तोष का उपदेश देने वाले क्यों नहीं अपनी सम्पत्ति बराबर बाँट देते ?"

"भाग्य सहायक न रहे तो धनी व्यक्ति को मिटते क्या देर लगती है और भाग्य सहायक हुआ तो भिखारी भी चुटकियों में दाता बन जाता है।"

"भाग्य, यह भी यद्यपि एक बनाया हुआ ही शब्द है, तथापि मैं इसे मान लेता हूँ। तुम भी यह क्यों नहीं समझते लछमियाँ का भाग्य जाग उठा है और वह निरन्तर बढ़ ही रहा है। चलो, मै हाथ भी जोड़ दूँगा पधानजी के सामने, परन्तु ध्वनि मेरी ही रहेगी।"

एक घास के स्तूप के पास पिता-पुत्र का यह संवाद हो रहा था। पुत्र का निर्णय सुनकर पिता ने प्रसन्न होकर कहा—"क्या ध्वनि है तुम्हारी ?"

"जयहिंद! पायलागन, आशीर्वाद! न कोई दाता न कोई भिखारी। जयहिंद! हम सब आगे बढ़ रहे हैं। सब भोक्ता हैं। आधार की जय होने पर ही हम सबकी जय है। आप भी 'जयहिंद' ही कहें।"

"जबान जब पलटे तब न। पुरानी आदत की लाचारी भी कोई चीज है बेटा। तुम्हे तो यह पंडितजी रटा गए। नया खून ठहरा, जल्दी याद हो गया!" पिता ने पधानजी की सीढियों का अतिक्रमण करते हुए कहा—"चलो, तुम आगे चलो।"

लछमियाँ ने बैठक मे प्रवेश किया। पधानजी रक्तांबर धारण कर रहे थे।

लछमियाँ ने जाते ही उनके सिर में लाठी-सी बरसाई—"जयहिंद!"

"जीते रहो लछमियाँ। आओ बैठो। पिता के साथ आये हो बैठो, बैठो।" पधानजी ने स्वयं ऊन के तीन चक्रो से सुशोभित तिब्बती आसन पर बैठते हुए कहा।

लछमियाँ का पिता नीचे के भाग मे दरी पर बैठ गया और पुत्र से भी बैठ जाने का आग्रह करने लगा।

लेकिन लछमियाँ न बैठा—"ठीक है, दिन-भर बैठे-ही-बैठे की नौकरी है।"

"नौकर हो गया लछमियाँ तू।" पधानजी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा—"बहुत अच्छी बात है!"

लछमियाँ पधानजी की प्रसन्नता के भीतर धँसकर उसकी असलियत टटोलने लगा ।

"लेकिन मालिक, यह मोटर की क्लीनरी मे भरती हुआ है । कोई खटका तो नहीं है ?"

पधानजी हँसे—"भगवान् रक्षक हैं । अच्छी तरह काम करेगा, तो किसी दिन ड्राइवर हो जायगा ।"

पधानजी के आशीर्वाद मे किसी अर्थ को न पा सकने वाला लछ-मियाँ उनकी इस कामना पर रीझ उठा । उसके पिता इतनी दूर तक नहीं देख सके थे । उसका सारा गर्व टूट गया और वह पिता के समीप दरी पर ही बैठ गया ।

पधानजी की गृहिणी ने भीतर से झाँककर देखा, बातें करने वाला लछमियाँ था । वह मन मे विचार करने लगीं—"झूठे ही इस बिचारे को भी हमने चोर समझा ।" वह तीव्र गति से रसोईघर में चली गईं । पतीली में कुछ चाय बची थी, जल्दी से गरम करने चूल्हे पर रख दी ।

"पंखी ओढ़ लीजिए महाराज !" पिता ने सलाह दी ।

पधानजी पंखी उठाते हुए बोले—"लछमियाँ, नथ मिल गई तुमने सुना होगा ?"

"हाँ सुन चुका हूँ ।" लछमियाँ ने कुछ कर्कश होकर कहा—"आपके संशय की अनेक आँखें लछमियाँ को तीर-सा बींधने लगी थीं गाँव में ।"

"नहीं, नहीं बेटा, तुम अपने पिता से पूछ सकते हो । मेरे मन मे ऐसा कोई मैल नहीं जमा था ।"

लछमियाँ हँसकर बोला—"असल में मेरे तिपनियाँ को निकल चलने का कारण यह नथ की चोरी ही थी ।"

"अच्छा हुआ, तुम्हें नौकरी मिल गई । गुड-तम्बाकू हमारे लिए भी ला दिया करोगे ?"

पिता ने बेटे को उत्तर देने मे कुछ हिचकता देखकर जल्दी से कहा—"क्यों नहीं मालिक !"

प्रसन्न मुद्रा धारण किये, दोनों हाथो में दो चाय के गिलास लेकर पधानजी की गृहिणी ने बैठक में प्रवेश किया—"अच्छे तो हो लछमियाँ!"

"हाँ।" लछमियाँ ने उत्तर में कहा।

उसके पिता ने उठकर दोनों गिलास उनके हाथ से ले लिये।

पधानजी बोले—"यह मोटर में नौकर हो गया है। कुछ खाने को भी तो लाओ इनको।"

लछमियाँ गिलास लेकर बोला—"आप ?"

"सूर्यास्त हो गया। मैं पी चुका हूँ। सन्ध्या करने जाऊँगा।"

पत्नी एक कटोरी में कुछ शक्करपारे ले आई।

लछमियाँ का पिता बोला—"कटोरी ले जाइए महाराज, हाथ में रखकर ही खा लेंगे।"

गृहिणी ने ऐसा ही किया और लछमियाँ पिता की मूर्खता पर खीझ उठा।

पिता बोला—"हाँ महाराज, बर्तन थोड़े खाया जाता है। व्यर्थ ही एक बर्तन जूठा करने से क्या लाभ ? मै तो फैशन को बबाल समझता हूँ।"

लछमियाँ मन में कहने लगा—"फैशन आगे बढने का प्रकाश है, सहारा है और है पहचान। फैशन की कसौटी पर ही तो सभ्यता और जंगलीपन परखे जाते हैं।" वह शक्करपारे खा रहा था, मीठे और नरम। वह चुपचाप सोचने लगा—"कितने स्वादिष्ट हैं यह ! ये लोग सदैव ही ऐसी ही चीज़ें उड़ाते हैं। यह क्या फैशन नहीं है ? कहाँ वह हमारी मडुवे की रोटी जो अच्छी तरह न सेंकी जाय तो पेट में दरद करने लगती है और अच्छी तरह पकाई जाय तो पत्थर होकर दाँत दुखा देती है।" वह अधिक चुप न रह सका, बोल उठा—"लेकिन पिताजी दुनिया मे चलता फैशन ही है। उसकी नवीनता ही उसका वेग है।"

"होगा बेटा, पर मैं तो जवानी में भी उसके रंग नहीं पहचान सका।"

पधानजी हँसने लगे—"और मैं भी भाई, मैंने भी अभी तक खुले कॉलर का कोट नही पहना।"

श्रीमतीजी दोहरे कफ का, कई-कई बटनों से जड़ा सलूका पहने हुए थीं। अपने गुलाबी पिछौड़े के भीतर अपने दोनों हाथ समेटकर चलनी बनीं।

पधानजी बात समझकर मन-ही-मन हँसने लगे। लछमियाँ के पिता ने बेटे का खाली गिलास ले लिया और अपने गिलास के साथ उसे भी माँजने को जाने लगा।

पधानजी बोले—"रहने दो। धुल जायगा।"

"नही मालिक, अपना जूठा बर्तन कैसे छोड़ जाऊँ यहाँ?" कहकर पिता बाहर चला गया। आँगन से कुछ दूरी पर नदी से गूल काटकर पानी की धारा गिरती थी।

पधानजी लछमियाँ से कहने लगे—"बेटा, देखो बड़े-बूढ़े तुम्हारे हित की बात कहते है। उन्होने युगो की दौड देखी है। नया भी एक दिन पुराना हो जाता है। पुराने के अनुभव से नए को लाभ उठाना ही चाहिए।"

लछमियाँ बोला—"शायद आप मेरे आगे की चाल पर कुछ कह रहे हैं।"

"चाल अपनी ही होनी चाहिए, परन्तु वह! मेरा मतलब ये जो माथे पर तुमने बालों का झुरमुट पाल लिया है। इससे क्या मतलब है? इसके लिए रोज साबुन, तेल, कंघी चाहिए। दर्पण भी चाहिए और घंटा-आधा घंटा परिश्रम भी तो। यह सब अपव्यय है।"

"दस रुपये कमाने वाले के लिए वह अपव्यय हो सकता है, परन्तु पचास वाले के लिए नही। मैं तो पैसा कमाने के पक्ष मे भी उतना ही हूँ, जितना उसे व्यय करने के।"

"पैसे का संचय क्या बुरी बात है ?"

"बहुत बुरी बात है। आपने नथ मे उसका संचय किया। वह खो गई। एक बुरे आदमी की मति डोली, तो दस भले आदमियो पर आपको संशय करना पड़ा। किसी भी राष्ट्र की उज्ज्वलता उसमें निरन्तर प्रवाहित धन की धारा है। धन को कठोर बन्धन मे रख देने वाले ये संपत्ति के संग्राहक, ये पूँजीपति—पशुता और अत्याचार के प्रतीक हैं। यही तो देश के दैन्य के जनक हैं। महाराज, बालो के लिए तेल-साबुन चाहिए तो घबराने की क्या बात है। वह सब पैसा गरीब उत्पादकों के बीच मे बँट जाता है।" लछमियाँ ने कहा।

उसके पिता गिलास माँजकर आ पहुँचे—"लछमियाँ, क्या बकवास आरम्भ कर दी तूने। महाराज, यह बातो का बतंगड़ करना इसे पंडितजी सिखा गए।"

"अच्छा तो है। बढता जायगा, समझ आती जायगी।" पधानजी बोले।

"चलो बेटा अब, पधानजी के संध्या-पूजा का समय हो गया। घर पर तुम्हारी माता भी राह देखती होगी। चलो।"

दोनो उठ खडे हुए। पधानजी ने भी उठकर भीतर की ओर मुख किया—"तुम काम मे लग गए, बडी प्रसन्नता हुई। आ लक्ष्मी! हमारे देश मे आ, हमारे प्रान्त में आ, हमारे पडोस मे आ।"

लछमियाँ मन में कहने लगा—"लेकिन इस चतुर पंडित ने लक्ष्मी को अपने भवन में बन्दी कर नही कहा कि आ लक्ष्मी मेरे घर आ!"

पिता ने विदा होते हुए पधानजी से कहा—"महाराज, सेवा बताइए। हल्द्वानी का क्या काम है, यह ले आयगा।"

हँसते हुए पधानजी बोले—"हाँ, हाँ क्यो नही! यह बराबर आता-जाता ही रहेगा, फिर देखा जायगा।"

दोनो पिता-पुत्र विदा हुए और पधानजी पंखी अच्छी तरह ओढ-कर पूजा-गृह की ओर बढ़े।

मार्ग में लछमियाँ बोला—"घबरा तो उठे हैं पधानजी !"

"कैसे बेटा ?" चिन्ता के साथ पिता ने पूछा।

"लछमियाँ बढ़ जो चला !"

"नहीं, ब्राह्मण सबका भला चाहता है। और पधानजी सच्चे ब्राह्मण हैं।"

"होंगे। मुझसे कह रहे थे माथे पर की इन बुलबुलियों को काटकर फेंक दो। क्यों परिश्रम करते हो ? इन्हें तेल से सींचने से क्या लाभ ?"

"बात तो ठीक है बेटा ! चीड़ के 'छिलके' जला-जलाकर हम उजाला करते हैं। उस तेल से हमारे घर के भीतर एक दीपक जल जायगा !"

"वाह ! यह क्या बात हुई ? दीपक के लिए भी आ जायगा और आगे बढ़िए पिताजी ! कड़ुए तेल का दीपक भी कोई चीज़ हुई—लालटेन कहिए कि चल-फिरकर गोशाला भी जा सकें, जंगल भी और पड़ोसियों के यहाँ भी। मैं लालटेन ला दूँगा आपके लिए, बिजली से जगमगा दूँगा सारा गाँव—जरा आगे तो बढ़ने दीजिए।"

"हाँ बेटा, क्यों नहीं ! एक को भी बढ़ाना हमें उचित है। अनेकता ही सुख है। जब सारा गाँव कह दिया तुमने तो उसमें हमारा घर भी शामिल हो गया।"

"बूढ़ा पधान अपने बेटों की बुलबुलियों को नहीं देखता। जब वे छुट्टियों में आते हैं, तो दिन-भर माँग ही सँवारते रह जाते हैं, उनको तो कटवा नहीं सके, कैंची रखने चले हैं मेरे सिर पर !"

दोनों अपने घर के भीतर प्रविष्ट हुए। सारा घर प्रसाद की भुनाहट से सुगन्धित हो रहा था। गृहिणी उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। वह चाय उबाल रही थी।

लछमियाँ ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा—"पिताजी अभी क्या है। अभी तो उनके यहाँ, इन बालों के ऊपर टोप रखकर जाऊँगा उनके बेटों की तरह, तब देखिएगा क्या कहते हैं पधानजी।"

"टोप क्यों बेटा ? तुम तो कहते हो साहब लोग हमारे देश से चले गए हैं ।"

"साहब लोग चले गए हैं तो क्या हुआ ? टोप तो यहीं रह गया है।"

"नंगे ही सिर गए ?"

"नंगे सिर की बात नहीं कहता हूँ । कहता हूँ टोप का नमूना तो यहीं रह गया । हमारे देश के कारीगर ही तो टोप बनाकर उनके सिर पर रखते थे ।"

पिता ने गृहिणी से कहा—"चाय तो हम पधानजी के यहाँ पी आए है । कुछ खाने को बढ़िया खस्ता शक्करपारे भी मिले ।"

"फिर सही पिताजी, हर बखत चाय का बखत है ।" लछमियाँ बोला ।

"बडी क्षीण वस्तु है बेटा ! दूध-दही की नदियाँ बहती थी पहले हमारे पहाड में जब से यह चाय बढ़ी है, हमारा बल घट गया !"

"पिताजी, मै तो चाय के बंडल को दूध बढाने की मशीन कहता हूँ । दूध की कमी को भरने के लिए ही यह अवतार पैदा हुआ है । एक चम्मच से सारा लोटा-भर पानी रंग लो । एक-एक गिलास घर-भर के प्रत्येक प्राणी के मुँह तक पहुँच जायगा ।"

"अरे बेटा, जहाँ पहुँची यह विष की घूँट क्षीणता ही बढ़ाई इसने ।"

"सिर्फ आपका एक विचार है यह । दाम देकर यह पत्ती आपको मोल लेनी पडती है, शायद इसीलिए आपको इससे द्वेष है । लेकिन आप इनको उपजा सकते हैं इन पहाडों पर । उपजती है ही, परिश्रम कीजिए । सारा अंग थककर चूर-चूर हो रहा था मेरा, यह दूसरा गिलास पीकर एक नया ही मनुष्य बन जाऊँगा मैं ।"

माता ने एक कटोरे में हलुवा और चाय का गिलास रखा लछमियाँ के सामने और उसके पिता के आगे केवल चाय ही रक्खी ।

लछमियाँ बोला—"खाइए न आप भी ।"

"नहीं सन्ध्या करके खाऊँगा।"

"क्या आप सन्ध्या करते हैं? वह तो अपने-आप हो जाती है। इन ढकोसलों में क्या रक्खा है पिताजी, ये सब आगे बढने की रुकावटें हैं।"

"जिस भगवान् ने हमे धरती पर के पदार्थ दे रक्खे हैं, उसका प्रातः-सन्ध्या-स्मरण हमारे मुख्य कर्तव्यो में से प्रधान है बेटा।"

"तो क्या वह भगवान् नंगा होकर चौके मे बैठ जाने से दिखाई देता है? या इस जनेऊ के धागे में बँधा रहता है? कही पर किसी दशा मे भी हम उसे स्मरण कर सकते हैं।" चाय पीकर लछमियाँ बोला।

"वक्त बाँधकर जो बात होती है, वही ठीक और सच्ची होती है और उसका एक ठौर बना देने से भी हमें ठीक-ठीक भगवान की समीपता मिलती है।"

"ओह! कुछ नहीं, सब ब्राह्मणो का पाखंड है। भगवान् कहाँ नहीं हैं? सब जगह हैं!"

"अब इस साल मैं तुम्हारी जनेऊ कर देने का भी विचार कर रहा हूँ।"

"नहीं, नहीं, पिताजी मुझे इस ढकोसले में न सानिए। मैं ऐसे ही ठीक हूँ।"

"नहीं बेटा, वह तो प्रत्येक हिन्दू का धर्म है। जनेऊ हो जायगा, दोनो समय सन्ध्या करोगे, नहाओगे-धोओगे, ऊँच-नीच का विचार प्रकटेगा तुम्हारे। विद्या-बल मे बढ़ते जाओगे। यही असली आगे बढना है।"

"यह सरासर झूठी बात है पिताजी, हम आजाद हो गए हैं। यह जनेऊ का धागा हमारी गुलामी की निशानी है। यदि मेरे गले मे पड़ा भी होता तो उसको तोड़कर फेंक देता। उसे पहनाकर आप मेरे मन में ऊँच-नीच का भेद पैदा करेंगे? कौन है ऊँचा? जिनका ऊँचा मकान

है। और नीचा कौन है? जो बिना आधार के भूमि पर सोता है। नहीं पिताजी, भगवान् ने हम सबको समान ही बनाया है। ऐसा भेद डालने वाला धागा नहीं पड़ेगा मेरे गले में।"

"बाप-दादा का नाम डूब जायगा। जनेऊ तो डाला ही जायगा तुम्हारे गले में।"

"मेरे गले में जनेऊ डालकर हो क्या जायगा? मेरी मोटर की नौकरी, रात खुले से अँधेरा होने तक मैं मोटर ही में। कहाँ जाऊँगा तुम्हारी सन्ध्या करने? कहाँ खोलूँगा कपड़े?'

"अरे दो मिनट के लिए बैठ जाना किसी जलाशय के पास।"

"जलाशय-वलाशय कुछ नहीं पिताजी, मैं तो हमदम के साथ बैठकर खाना खाता हूँ।"

"हमदम कौन है?"

"मेरा मित्र और मेरा उस्ताद!"

"अरे वह तो—"

"चुप रहिए, उसकी शान के खिलाफ कोई बुरा शब्द काम में न लाइएगा। मैं कहता हूँ हमदम के जैसा दयावान, सच्चा और ईमानदार आदमी दूसरा नहीं है तमाम मोटर की लाइन पर।"

पिता चुप रह गए। उन्होंने सोचा "इस बात पर बहस करना व्यर्थ है। जनेऊ के बाद भ्रष्ट हो जाने से, जनेऊ न करके भ्रष्ट रहना अच्छा है।"

पिता को चुप देखकर लछमियाँ कहने लगा—"खान-पान की घृणा और मनुष्य के ऊँच-नीच के विद्वेष से ही तो भारत के टुकडे-टुकडे हुए हैं। अनेकता के एकत्व को साधने के लिए यह परम आवश्यक है कि हम आपस के द्वेष को छोडकर एक-दूसरे से प्रेम का व्यवहार करें।"

पिता मन में सोचने लगे—"दो-चार साल कर लेने दूँ इसको अपने मन की। नया खून है फिर बखत ही ऐसा आ गया है। पधानजी के लड़के भी बिलकुल साहब बनकर आते हैं यहाँ। सन्ध्या-पूजा का

सारा बखत बनाव-सिंगार में जाता है। जूता पहनकर सब-कुछ हजम कर जाते हैं। छूत-छात का नाम नहीं मानते। स्त्रियों के हाथ पकड़कर घूमने जाते हैं। जब पंडित होकर पधानजी के घर के ये हाल है, तो हम तो क्षत्रिय है।"

लछमियाँ बोला—"जीवन का स्तर ऊँचा करना है पिताजी हमें। क्या है हमारा जीवन! पशुओं की तरह दिन-भर परिश्रम किया आपने, परिश्रम के विरुद्ध नही हूँ मैं, पर उसका कोई ढंग होना चाहिए। पशुओं की भाँति कुछ दाना-घास डाल लिया हमने पेट मे, वैसे ही भूमि पर पड रहे।"

पिता बोले—"बेटा, कुछ समझ में नहीं आ रहा है तुम यह हमारी रोटी में कडुए बीज मिला रहे हो या उसे मीठा बना रहे हो?"

"उसे मीठा ही नहीं, चुपडी भी बना दूँगा।"

"तुम हमारे घर में यह असन्तोष बो रहे हो या उसमें अशान्ति की आग लगा रहे हो?"

"मैं सुख-शान्ति के दीपक जला रहा हूँ। बिजली के दीपक! तेल-बत्ती, न दियासलाई। एक बटन दबाया नहीं कि तमाम बल्ब जल उठे। कितना सुख है—कैसी बचत है!"

"क्या सुख है? तम्बाकू के लिए कोयले तो सुलग नही सकेंगे उस दीपक से।"

"आप तो अजीब तरह से सोचते हैं। समय की कितनी बचत हो जायगी आपको। जब अपने-आप दीपक जल उठेगा, तो अपने-आप हलचल पड़ेगी।"

"क्यों बेटा, अपने-आप पानी भी बरस जायगा?"

"बरस जायगा, क्यो नहीं बरसेगा? लेकिन अभी यह मुझे ठीक मालूम नहीं है।"

"नहीं बरसेगा बेटा, मैं कहता हूँ तुमसे, नहीं बरसेगा। आकाश की ताली कौन खोल सकता है? जवानी मे मैं भी तुम्हारी तरह आगे बढ़

जाने को तैयार था। नहीं बेटा, आगे बढ़ जाना मृग की मरीचिका है।"

"संसार में कर्मवीर के लिए सब-कुछ सम्भव है। सन्तोष आलसी का मन्त्र है और सरलता निरुद्यमी का सिंगार।"

"क्या है उद्यम? जब पसीना बहाकर हमने खेत तैयार किये, बीज बोकर हमने उसमें पटला चलाया, हम आकाश की ओर ताकते ही रह गए और उसमें बादल का एक टुकड़ा भी न उगा तो फिर हमारे उद्यम का क्या मूल्य? यहीं पर धरती माता का बेटा, किसान भाग्य-वादी बन जाता है।"

"उसकी दुर्बलता जानकर ही महन्तों ने नई-नई मूर्तियाँ गढ़कर नए-नए मठ बना दिए। उन्होंने अपने लिए भगवान् का आसन छीन लिया और दीन श्रमजीवी को मनुष्य से भी नीचे पशु की श्रेणी में गिरा दिया। धन्य रे भाग्य! धन्य रे भगवान् और धन्य रे धर्म।"

"जब धर्म ही न मानोगे तो फिर सूर्य कैसे उदय होगा?"

"ऊँच-नीच मानना ही धर्म है क्या?"

"ऊँच-नीच क्या इसमें? वह तो शरण और रक्षा का सम्बन्ध है। वह तो अनार के पेड़ और खीरे की बेल का प्रश्न है।"

"यह भेद अत्याचार की सूचना है धर्म की नहीं। धर्म मानता हूँ मैं, पर लोकान्तर उसका क्षेत्र नहीं है। उसका क्षेत्र इसी धरती पर है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति ही नहीं, जीव-मात्र के प्रति सद्व्यवहार का नाम धर्म है।"

"यह भी बात है बेटा!"

"धर्म की व्याख्या के लिए पधानजी के यहाँ तक जाना नहीं है। अपने ही हृदय में टटोलो पिताजी, वहीं सब सहज ही समझ में आ जायगा।"

ये विवाद के प्रश्न छोड़कर पिता ने साधारण बातें चला दीं। खा-पीकर रात काटकर लछमियाँ ने प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ही तिपनियाँ

के प्रस्थान की तैयारी की। माता ने बड़े आग्रह के साथ उसे कुछ खा-पी लेने को बाध्य किया।

उसके जाते समय पिता ने पूछा—"अब कब आओगे ?"

लछमियाँ ने पिता के पिछड़े हुए उस जीवन और निवास पर दृष्टि डालकर कहा—"देखिए, नौकरी ठहरी, जब अवकाश मिलेगा।"

उसकी माता ने एक 'ठेकी'-भर दही और एक घी का भरा लोटा एक 'शिखा' मे बाँधकर लछमियाँ को दे दिया।

पिता बोले—"शिखा सँभाल कर रख लेना, बर्तन भी।"

लछमियाँ हँसा—"हाथ की इस शिखा से आपका मतलब है या सिर की ?"

"दोनो" पिता ने कहा।

लछमियाँ माता-पिता से "जय हिन्द !" कहकर विदा हो गया।

भुमिया के मन्दिर से होकर ही उसका पथ था। जल्दी-जल्दी पहाड़ो पर चढ़ता हुआ वह धर्मशाला मे पहुँचा।

बाबाजी अकेले ही आसन पर विराजमान थे। धूनी प्रचंडता से जल रही थी। वह स्नानादि से निवृत्त हो अंग मे भस्म धारण कर रहे थे।

लछमियाँ को कुछ भेंट हाथ मे लेकर आते हुए देख बाबाजी को आश्चर्य हुआ।

"जय हिंद !" लछमियाँ बैठा नहीं !

"जय शंकर ! विराजो भगत !" बाबा ने कहा।

"शंकर किसने देखे हैं ?"

"और हिन्द ?"

"नक्शा तो है।"

"उनकी भी प्रतिमा है।"

"इससे क्या हुआ ? गढ़ा हुआ है सब।"

"बैठो तो सही।"

"समय नहीं बहस के लिए। मै जा रहा हूँ नौकरी पर। लोटा-

कम्बल मैं ले जा रहा हूँ और इस धर्मशाला को खाली कर चला हूँ आपके लिए। लछमिनियाँ अपना लटो-पटो कन्धे पर लाद बिना पीछे देखे हुए चल दिया।

तिपनियाँ पहुँचकर उसने दही और घी हमदम के सामने रख दिया।

"क्या है ?" हमदम ने पूछा।

"उस्ताद की भेंट।"

"रक्खो, उसके मालिक तो तुम्हीं हो।" हमदम ने हँसते हुए कहा।

आठ

पण्डितजी के ग्राम-निवास के आरम्भिक महीने तो शान्ति से बीते, फिर संघर्ष की उथल-पुथल मचने लगी। नगर-निवासी नवीन लहरों को सहज ही पचा लेते हैं, परन्तु ग्रामवासी बड़ी धीर गति से उनका सामना करते हैं।

पण्डितजी उदार विचारों के थे। छुआछूत नहीं मानते थे। लोक-सेवा में ही उनकी धार्मिकता थी तथा प्रतिवासी की सहायता ही उनकी पूजा-अर्चना थी।

परन्तु चाचाजी की रसोई में ही उनके भोजन का प्रबन्ध था और वही संयुक्त गृह उनका निवास भी था। चाचीजी पक्के पुराणपंथी थे और चाचीजी उनसे भी कई सौ वर्ष पूर्व के आचार-विचार मानने वाली थीं।

नगर मे सन्ध्या-पूजा कुछ नहीं करते थे पण्डितजी, वहाँ हवा ही वैसी थी। गाँव में चाचाजी के प्रतिवाद से बचने के लिए सन्ध्या का स्वाँग उन्हें रचना पड़ा। वह भोजन की थाली के सामने हाथ मे जनेऊ लपेटते और भोजन से पूर्व अन्नांश से पाँच बलियाँ भूमि पर रख देते। वे किसके नाम की थीं, यह तो वह भूल गए थे, पर संख्या उन्हें सही याद थी।

दो-ही-तीन दिन बाद चाचाजी ने एक दिन उन्हे टोक दिया—"बेटा, रसोईघर की सन्ध्या, यह तो कुछ अर्थ नहीं रखती।"

पण्डितजी उनका मुख ताकते रह गए।

"तुमने मुझसे अधिक पुस्तकें पढी है। तुम्हारी समझ मे बात आ जायगी इसी से कहता हूं। अन्न की थाली परोसी जाकर जब सामने रक्खी गई, तो फिर भगवान् की भावना हम नहीं कर सकते। इसलिए पूजाघर से रसोईघर का विभक्त रहना सर्वथा उचित ही है। यह हमारे पूर्वजों का निर्णय उपहास और उपेक्षा का विषय नही है।"

पण्डितजी सोचने लगे—"बडी मुश्किल पड जायगी!" वह सन्ध्या के न्यास, विनियोग, संकल्प, आवाहन, अघमर्षण आदि के मन्त्र ही नही गति-विधि भी भूल गए थे। केवल गायत्री याद थी। उनके मुख पर विकट असमंजस अंकित हो गया!

चाचाजी ने वहीं पर चोट की—"केवल मंत्र जपने से ही कुछ नहीं होता। उसको भूमिका, अधिष्ठान और आवाहन भी चाहिए। तुम भूल गए हो तो कोई लज्जा की बात नही है, पूजाघर मे पुस्तक रक्खी है फिर याद किया जा सकता है।"

"हाँ चाचाजी!" पण्डितजी सोचने लगे—"बुरा फँसा!"

चाचाजी ने कहा—"मन्त्र का संचय करने से पहले इस काया के पात्र को सबल और निर्मल करना आवश्यक है न?"

"अवश्य।"

"प्रत्येक सन्ध्या के आरम्भ मे मन और इन्द्रियों को बलवान करने के लिए प्रेरणा दी जाती है। यदि शुद्ध विचार से हम वह प्रेरणा दें तो वह अवश्य प्राप्त होती है। विदेशी संस्कृति के पीछे दौडने वाले कहते हैं—केवल कहने से क्या होता है?"

"चाचाजी, मनोविज्ञान सर्वत्र एक-सा है। मैंने स्वदेशी और विदेशी मनोविज्ञान दोनों का अध्ययन किया है। विदेशी नव-विचार का आन्दोलन ध्यान के महत्व को भी मानने लगा है और जप को भी उसने गौरव दिया है। वे लोग तो यहाँ तक कहने लगे हैं, निरन्तर और ठीक-ठीक आत्म-सूचना दोहराने से बड़े-बडे रोग, जो औषधि से

नहीं हिल सकते, जड से चले जाते हैं।"

"प्रसन्नता की बात है तुममे श्रद्धा है। वही तो हमारे आगे बढ़ने की शक्ति है। हमारी प्राचीनता ही शेष जगत् की नवीनता है। तुम्हारे संस्कारो ने तुम्हे फिर ग्रामों की ओर लौटा लिया है। नगरों की भीड केवल एक मदारी का तमाशा है।"

"सच है चाचाजी, वह मदारी पश्चिमी विज्ञान है। उसने बिजली के तार जोडकर मशीन का पहिया चलाया है। उसके चमत्कारो का लोगो ने विश्वास किया है, पर मन के विचारों मे जहाँ सारी भौतिकता सोती है, कोई आँख उठाकर देखता भी नहीं।"

"विचार का जगत् एक ओर प्रकृति से मिला हुआ है दूसरी ओर भगवान् से। अमित विचारों के रखने से मनुष्य को उस जोड का पता नहीं चलता और वह योग को संदिग्ध कहकर विज्ञापित करता है।"

"हाँ चाचाजी, भौतिकता के जाल में वह जितना ही जकडता गया उसने अपने को उतना ही मुक्त समझा। वास्तव में यह उसकी प्रकृति की विजय नहीं है, उतनी ही उसकी पराधीनता है। वह घोर कृत्रिमता के बीच में अपनी वास्तविकता को भूल गया!"

"तुम कैसे प्रकृति की ओर आकृष्ट हुए?"

"साहित्य और कला की अभिरुचि के कारण चाचाजी! दोनो ही एक प्रकार का मनोयोग माँगते है। दोनों मन की वश्यता के ऊपर की वस्तु है। उनकी साधना में मुझे भीतर और बाहर की सन्धि दिखाई तो नहीं दी, उसका आभास अवश्य मिला।"

"कला तो राज्याश्रय चाहती है। फिर तुम नागरिकता से क्यो भाग उठे?"

"नहीं चाचाजी, आश्रय कोई वस्तु नहीं, किसी का भी नहीं। आश्रय की खोज मन की हीनता है। कला विलासिता नहीं है, वह है

मन की निर्मलता। इसलिए मुझे कलाकार अनागरिक के रूप में दिखाई पड़ा।"

"पढ़ते-लिखते तो तुम कुछ भी नहीं दिखाई देते?"

"हाँ, वह भी केवल एक उलझन है। शुद्ध विचार उससे कुछ स्थूलता पा जाता है और अन्तर्मुख मन बहिर्मुख होकर फिर जगत् के सम्बन्धों से जुड़ जाता है। अहंकार बढ़कर सत्य पर आवरण डाल देता है।"

"फिर किधर बढ़ रहे हो तुम?"

"भीतर की ओर। ध्यान ही में तो सारा विस्तार समाया हुआ है, जैसे दृष्टि-विन्दु में चित्र की समस्त सत्ता।"

"किसका ध्यान करते हो?"

पंडितजी इधर-उधर झाँकने लगे—"क्या बताऊँ चाचाजी, केवल दिशा ज्ञात है, पथ नहीं दिखाई देता।"

"फिर भी कुछ ध्यान तो करते ही होगे?"

"हाँ, कोई भी वस्तु।"

"जैसे।"

"आम ही ले लीजिए। पाँचों इंद्रियों पर जो उसके संवेदन उपजते हैं, मैं पाँचों मार्गों पर उन्हें प्रकटाता हूँ। पूरे परिमाणों में मैं उसे देखता हूँ, उसकी गन्ध का अनुभव करता हूँ, उसके माधुर्य का भी रस लेता हूँ, उसके स्पर्श की चेतना पाता हूँ और उसको उछालकर उसकी ध्वनि भी सुनता हूँ।"

"यह तो तुम इंद्रियों के विलास मे रत हो गए। यह दौड़ तो बाहर की ओर ही अनुगामित हैं तुम्हारी।"

"बाहर की वस्तु को भीतर प्रकट कर रहा हूँ। भौतिकता मन मे केवल एक कल्पित स्फुरण ही तो उपजाती है। स्मृति की सहायता से केवल मानसिक उपादानों से भी वह स्फुरित हो सकता है।"

"इससे क्या तुम्हारा बाहरी प्रतिबन्ध टूट जायगा?"

"विश्वास तो ऐसा करता हूँ।"

"किसने बताया तुम्हे यह आम का ध्यान ?" चाचाजी ने हँसते हुए पूछा।

"विदेशी मनोविज्ञान के अध्ययन ने। धारणा के विकास के लिए ऐसे ही अभ्यास उन पुस्तकोमे बताये गए हैं।" पंडितजी ने गम्भीरता से कहा।

चाचाजी हँसने लगे—"यह अध्यात्म कहा हुआ ? अन्तः माया ही हुई।"

"माया से हम ध्यान में उसके आकार पर आए, वह ध्यान की ही वृद्धि हुई, माया की कैसे ?"

"लेकिन लक्ष्य तो हमारा निराकारता है।"

"ठीक है जैसे निराकारिता के लिए मूर्त्ति चाहिए, वैसे ही मूर्ति के लिए जगत् की वास्तविकता।"

"विचार अपने अर्थ खोकर एक भावुकता की रचना करते हैं। विचार उसका इकाई हैं।"

"भावुकता का ध्यान कैसे होगा ? चाचाजी, एक विनय है। भारत के अतिरिक्त समस्त जातियों ने सभी युगों मे केवल जड़वाद को ही प्रश्रय दिया है, यह मानना हमारी अहम्मन्यता है।"

"प्रत्येक जाति की भौगोलिक स्थिति उसकी अलग संस्कृति बनाती है।"

"परन्तु विज्ञानमय आधार पर सारी मानवता की संस्कृति एक है।"

चाचाजी के मुख पर अनुमोदन प्रकट नहीं हुआ।

पंडितजी बोले—"चाचाजी, वाद-विवाद मुझे पसन्द नहीं है। आप ही बताइए फिर भावुकता के ध्यान के लिए क्या आदर्श हो ?"

"बेटा, सुनी-सुनाई बातो के अतिरिक्त और मैं जानता ही क्या हूँ।"

"फिर भी ?"

"हमारे देवी-देवताओं के जो रूप हैं, उनकी रचनात्मकता का

आधार भावुकता ही है। माता के रूप में सृष्टि की त्रिगुणात्मकता— गायत्री। कला की साधना तुम्हारी जिस भावुकता को नहीं जगा सकी, वह जगा देगी। तीनों काल की सन्ध्या करो। बिलकुल ठीक और नियमित नपे हुए समय मे। आधार पक्का करना सबसे पहले आवश्यक है। इसके पश्चात् ही कुछ हो सकता है।"

पंडितजी ने सन्ध्या के नियम की पालना निश्चित की।

"तारों की ज्योति में उठ जाया करो पभात-समय मुझसे भी पहले।"

"हाँ चाचाजी, पहले मैं सूर्योदय के पश्चात ही उठता था।"

"रात्रि-जागरण यह विज्ञान का अभिशाप है। उसने यह जो बिजली का दीपक जलाया है, वही इस रात्रि-जीवन का मुख्य कारण है।"

"इसलिए तो मैं उस प्रकाश को छोड़कर स्वाभाविक ज्योति की ओर बढ़ आया हूँ। बलपूर्वक हठात् कोई प्रकृति नहीं बदली जाती, धीरे-धीरे निरन्तर की साधना से अब मैं सूर्योदय से कुछ पहले उठ जाता हूँ।"

पण्डितजी सन्ध्या को रसोईघर में से उठकर फिर ठाकुर-घर की ओर ले चले। सन्ध्या की पुस्तक लेकर उसे याद करने लगे। पंडितजी को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। सन्ध्या की एक-एक बात मे उन्होने बड़ी गहराई अनुभव की और ऋषियों के सूक्ष्म ज्ञान की सराहना करने लगे।

चाचाजी के साथ सन्ध्या करने में उन्हें हिचक थी। वह उनसे पहले ही उठकर कुछ देर पूजा-गृह में सन्ध्या का अभिनय करने लगे। जो भी जैसी भी सन्ध्या करते, होती थी वह नियम से, ठीक एक ही समय में। पंडितजी को जब सन्ध्या की देवी के ध्यान कंठस्थ हुए, तो उन्होंने अनुभव किया उस देवी का आविर्भाव सूर्य के मंडल में से हुआ है एवं निरन्तर काल की चेतना में अवस्थान उसका लक्ष्य है। इसलिए वह प्रतिदिन ठीक एक ही क्षण में और एक ही स्थान पर उसमें आरूढ़ हो जाने पर आकर्षित हो गए।

धीरे-धीरे अभिनय करते-करते पंडितजी के मन में सन्ध्या के प्रति

अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हो गई। वह तन और मन दोनों के स्वास्थ्य में संवर्द्धित होते गए। प्रभात तथा सन्ध्या-समय वह ठीक-ठीक नियमानुकूल सन्ध्या करने लगे। विधि सहित सन्ध्या के मन्त्र उन्हें याद हो गए।

पुस्तक पढ़ना उन्होंने छोड दिया। वह कहते, पुस्तकावलोकन से भ्रम बढ़ता है। स्वभाव में केवल अनुसन्धान की वृत्ति ही बल पाती है और मिलता कुछ भी नहीं है। साहित्य की रचना और कला की रचनात्मकता भी उन्होंने संन्यस्त कर दी। उनका विचार हो गया, कला की साधना केवल एक जंजाल है, जो ध्यान के स्तरों पर व्यक्ति को ऊपर उठने नहीं देती। वह जागृति के अधिकांश में केवल विचार के ही जगत् में निवास करते। बातुलता, परोपदेश और वाद-विवाद इनको भी वाणी के विभ्रम में सम्मिलित करने लगे।

दिन-भर शुद्ध श्रम मे समय अतिवाहित करते। शुद्ध श्रम का अर्थ लगाया था उन्होंने, बिना सिक्के की सहायता के अपने ही श्रम से धरतीमाता से अपनी जीविका का उपार्जन। वह दिन-भर कभी गाय चराते, कभी खेतों से घास निकालते, कभी जंगल से लकडी काट लाते, कभी टूटी-फूटी गूलों और दीवालों की मरम्मत करते।

आरम्भ से ही चाचाजी, पंडितजी को इस प्रकार शारीरिक श्रम उठाने पर बरजते रहे। परन्तु वह मानने वाले कहाँ थे!

चाचाजी ने फिर एक दिन उनसे कहा—"बेटा, शारीरिक श्रम, श्रम की तुच्छता है। पंडितजी का श्रम तो मस्तिष्क का श्रम है, विद्या का विस्तार।"

"इसी समझ पर तो चाचाजी मैंने वह नवीन बेसिक स्कूल खोला था।"

"बात तो अच्छी थी।"

"परन्तु मेरे मन में तो यह सूत्र बस गया—'एक हि साधे सब सधे।' और यह एकता केवल मेरे ही अपनेपन का जागरण है। मेरी

जागृति पर सारा जगत् जाग उठता है और जब मैं मोहित होकर सो जाता हूँ तो सारी सृष्टि शून्य में मिल जाती है। इसीलिए मैं अनेकों की सेवा और सहायता के विचार और श्रम को पाखंड समझने लगा। मैंने उस पथ को छोड दिया और केवल अपनी आत्म-साधना को ही लक्ष्य समझ लिया।"

"कोई विद्या से संयुक्त लाभकारी कार्य करते।"

"लाभकारी कार्य—अर्थ ही केवल लाभ है? नहीं चाचाजी, मैं उसे तमाम अनर्थों की जन्मभूमि मानता हूँ। जहाँ-जहाँ भी वह संश्लिष्ट है, वहाँ से श्रम की शुद्धि तिरोहित है। अर्थ की व्युत्पत्ति से विहीन कोई श्रम आप बतायं तो मुझे।"

चाचाजी ने विचार किया। कुछ सूझा नहीं उन्हें। अन्त में बोले—"फिर तुम्हारी विद्या का उपयोग क्या रहा दिन-भर की इस कुली-गिरी मे?"

"वास्तविक उपयोग हुआ है चाचाजी! क्योंकि इस श्रम में मेरी प्रतिफल की कामना न्यूनतम हुई है। गेहूँ की बाल से मोतियो के झरने का लालच नही उपजता मेरे। श्रम हाथ-पैर ही तो करते हैं। मेरे अहंकार का एक दोहरापन भी तो है, वह मेरी मानसिकता है। मैं दिन-भर प्रकृति के साथ एक ही विचार की धारा में अपने ध्यान को भी तो साधता रहता हूँ। हाथों से मैं अपने खेत की घास निकालता रहता हूँ, तो मन से अपने मन के क्षेत्र से कामना की जड़ें खोदता जाता हूँ।"

चाचाजी ने मनोयोग से अपने भाई के पुत्र की ओर देखा।

"इसलिए चाचाजी ऊँचाई-निचाई में तो श्रम की विभक्ति की नहीं जा सकती, हाँ रंग का भेद उसमें विद्यमान है।"

"रंग का कैसा भेद?"

"चोरी और साहूकारी का, काले और श्वेत का।"

चाचा जी अनुमोदन की ओर बढ़े।

पंडितजी कहते जा रहे थे—"किसी के अधिकार या सम्पत्ति का अपहरण यही श्रम की अशुद्धि है। इसलिए समाज मे ऊँच-नीच का भेद नहीं समझा जाना चाहिए, सचाई के साथ, निर्लोभ होकर शुद्ध श्रम का प्रवर्तक हमारा हाली—चाचाजी, वह अछूत क्यो है आपके व्यवहार मे ?"

"वह अछूत ही उत्पन्न हुआ है।"

"जन्म तो कोई बात नहीं है। केवल एक अवसर है।"

"कर्मों की एक समष्टि ही तो जन्म है।"

पंडितजी विचार में पड़ गए थे। चाचाजी और उनके बीच में यही एक भेद की रेखा पडी थी। चाचाजी जन्म और कर्म के बीच, भाग्य और उद्यम के बीच कोई अन्तर नहीं समझते थे और पंडितजी समझते थे। पंडितजी अछूत को हाथ पकडकर ऊपर उठा लेना मानव-धर्म समझते थे, परन्तु चाचाजी प्राचीन रूढ़ि को बदल देने को कदापि प्रस्तुत नहीं थे। उनका पक्का विश्वास था—उसे अपनी ही शक्ति से उठ जाना चाहिए।

पंडितजी अछूत हाली के साथ साहचर्य-स्थापना को लालायित थे, परन्तु चाचाजी ने अनेक प्रतिबन्ध लगा रक्खे थे। पंडितजी उन्हे कुपित कर देना नहीं चाहते थे। नगर के होटलों में सभी प्रकार के मित्रो के साथ खाना खा-पी लिया करते थे, परन्तु गाँव मे आ जाने से चाचाजी को प्रतिष्ठित रखने के लिए पंडितजी को उनके अनुबन्धों में बँधना पड़ा था।

"चाचाजी यदि मै आपके हाली को काया और वस्त्र की उज्ज्वलता में धो सकूँ, तो फिर भी क्या वह घृणा का पात्र रह जायगा ? कैसा अत्याचार है यह हमारा, यदि हमने गिरे हुए को और एक ठोकर लगा दी !"

"उसको वाणी और विचार मे भी उज्ज्वल होना है।"

"तो क्या एक के पश्चात् दूसरे संस्कृत के श्लोक उसके अधरों

से निःसृत होना ही उसकी उज्ज्वलता है ? वाणी का भूषण सत्य है चाचाजी, व्याकरण कदापि नहीं। शुद्ध और ललित वाक्यों में निरी झूठ का बोलने वाला चोर ही है।"

"शुद्ध वाणी का बोलने वाला न कभी झूठा विचार ही करेगा, न झूठा उच्चारण। बाहर की मलिनता, अन्तर के विकार की अभिव्यक्ति है।"

पंडितजी के मन मे एक नई शाखा प्रकट हुई। कुछ सोच-विचार के अनन्तर उन्होंने कहा—"बाहर की स्वच्छता से उसके विचार परिष्कृत हो उठेंगे तो, मैं निरन्तर चेष्टा करूँगा।"

"तुमने केवल एक का साधन-व्रत लिया है। तुम फिर 'पर' की भावना मे फँस गए!"

पंडितजी ने कुछ देर के लिए शिवा मौन धारण किया। चाचाजी ने कहा—"वत्स! जब तक उसके विचारो मे परिवर्तन नहीं होगा, कर्म न बदलेंगे।"

"यदि उसके विचार बदल गए, कर्म शुद्ध हो गए तो?"

"वह शुद्ध है।"

पंडितजी को कुछ सहारा मिला, अपने मन की एक ग्रन्थि खोलने के लिए ही पंडितजी हाली को शुद्ध करना चाहते थे—वह थी उनके अपने श्रम की शुद्धि!

पंडितजी केवल अपने ही श्रम के आधार पर जीवन धारण करना चाहते थे। परन्तु उनके अन्न की उस दौड में दो सिरो पर दो बड़ी-बड़ी बाधाएँ थी। एक सिरा था खेत और दूसरा पाकशाला!

चाचाजी हल चलाने को महान् छूत मानते थे और पंडितजी चाहते थे, वह स्वयं ही हल चलाकर अपने खेत को बीज के लिए तैयार कर लें। परन्तु अब तक कर नहीं सके थे। यह थी एक सिरे पर की बाधा और दूसरे सिरे पर वह अन्न के अपने ग्रासों को स्वयं ही पकाना भी चाहते थे, बड़ा अद्भुत मेल था—एक ओर वह अछूत की छूत मिटा

देना चाहते थे और दूसरी ओर उत्कंठित थे स्वयं-पाकी बन जाने को ! विचित्र संगति !

चाचाजी बोले—"जहाँ तक मानवता का सम्बन्ध है, विचार के जगत् मे, सिद्धान्ततः अछूत के भीतर वही बोलता है जो हमारे भीतर। भावना में हमें कोई घृणा नहीं होनी चाहिए उससे।"

"व्यवहार में ?"

"भावना मे शुद्ध होगे तो व्यवहार में अशुद्ध हो न सकेंगे।"

"उसकी छूत मानना क्या व्यवहार का शुद्ध रह जाना है ?"

"मनुष्य की छूत कहाँ है यह, उसकी मलिनता की है। मनुष्य के समुदाय से नगर बना है, तुम क्यो नगर से गाँव की ओर बढ़ आए हो। उस वातावरण का त्याग क्या तुम्हारी उसके प्रति घृणा नहीं दिखाती ?"

"हाँ दिखाती तो है। परन्तु हाली, प्रकृति के संसर्ग में है। विचार, वाणी और व्यवहार मे उसके कोई कृत्रिमता नहीं है। इतनी साधुता समाज द्वारा क्यो लूट ली गई है, समझ नहीं पडती।"

"वह विचार, वाणी और व्यवहार मे समन्वित नहीं है। तुमने सदैव ही मशीनो को श्रम का अशुद्धाचार, बेकारी का जनक, पूँजीपतियो का पोषक और मजूरों का शोषक, यही नाम दिए हैं।"

"इन विवादों को जाने दीजिए चाचाजी, यह तो नगर के साथ छूट गए।"

"पूँजीवाद गाँवो के भीतर नहीं है क्या बडे-बडे जमींदारो के रूप से।"

"यह भी विवादग्रस्त विषय है। मुझे मेरे मतलब पर आने दीजिए। अच्छा, मै हाली के साथ खाता तो हूँ नहीं।"

"खाने को दो उसे, मैं निर्दयता नहीं सिखाऊँगा पुत्र तुम्हें। तुम्हारी धर्म में मति को ही स्थिर रखना चाहता हूँ।"

"उसके साथ मेरे हल चलाने में आपको क्या आपत्ति है ?"

"अवश्य आपत्ति है।"

"केवल परम्परा—नहीं, तर्क भी आवश्यक है।"

"तुम्हारे कौन तर्क है?"

"मै केवल अपने ही श्रम पर जीना चाहता हूँ। सबसे कठिन श्रम हाली का है खेत में। मैं उसके श्रम मे अपना दाना उगाकर पेट भरना नहीं चाहता।"

"उसे मजूरी दे दी जाती है। यदि तुम उसका काम करने लग जाओगे तो उसकी पालना कैसे होगी, वह क्या करेगा?"

"वह भी अपने ही शुद्ध श्रम में उपार्जन करेगा और हमारी दया की अधीनता मे मुक्ति पा लेगा।"

"खेत कहाँ है उसके पास।"

"कुछ दान कर दीजिए। दान की अमित महिमा है!"

"चल ही तो रही है एक परम्परा। क्यो नवीन परम्परा पर रीझे हो? वह भी कुछ दिनों मे पुरानी पडकर ऊब न उठा देगी क्या?"

"हल एक अपवित्र वस्तु है।" चाचाजी को तर्क चलाने के लिए एक बढिया संज्ञा मिल गई।

"क्यों है?"

"तुम मशीन को अपवित्र नहीं कहते हो?"

"वह मशीन नहीं है। पहिए की संयुक्ति ने ही मशीन को परिभाषित किया है।"

"काल और देश के साथ श्रम की संक्षेपता मशीन की परिभाषा है, केवल पहिया ही नही!"

पंडितजी चक्कर में पड गए! पहिए से दूर अपने गाँव के एकान्त में भाग आने पर उन्होने देखा, और विचारा—वह आकुल हो गए।

चाचाजी ने पूछा—"क्यो है न बात?"

"हाँ चाचाजी! चक्की और चरखा?"

"ये भी मशीनें है। इनमे तो पहिया साक्षात् है।"

"तब ?"

"तब सिल में पीसो या दाना ही चबा जाओ, पुआल बिछाओ और पत्ते लपेटो।"

"यह तो बहुत दूर की बात आप कहते हैं। पहले पास की कठिनता तो सुलझने दीजिए। श्रम कैसे शुद्ध हो ?"

"हल चलाने से नहीं होगा बेटा ! मैं दो मूक पशुओं के कंधों पर जुआ रखकर उनकी पूँछ मरोडते हुए तुम्हे नहीं देख सकता।"

"अच्छा चाचाजी, इस हल का एक और हल मिल गया मुझे !" पुलकित होकर पंडितजी बोले।

"क्या मिला ?"

"कुदाल को तो आप मशीन न कहेंगे ?"

"नहीं, कुदाल की गति मे प्रवेग भर देने के लिए न उसमे कहीं पहिया है न भाप, बिजली या पशु-मानव का सम्पर्क। उसे मशीन नहीं कहा जा सकता।"

"मैं उपका उपयोग तो करता ही हूँ। उससे तो मेरे अशुद्ध हो जाने का भय नहीं है न ? निःसन्देह हल का प्रयोग हमारा लालच है, जीव के प्रति कठोरता भी है। मूक जीव ! वह तो अछूत के समान ही दया का पात्र है। चाचाजी, अब मै क्षेत्रज्ञ हो गया। मेरे अन्न का खेत अब मेरे ही हाथों से खोदा जायगा। मै ही वैसा बीज बोऊँगा, वैसा ही लवाऊँगा।"

"खोद सकोगे ?"

"अपने-भर को क्यों नहीं ?"

"अच्छा मान लिया तुमने खेत खोद भी लिया और लवा भी लिया फिर क्या होगा ? फिर तो पहिए का ही सहारा लेना होगा।"

"रोटी छोड दी जा सकती है चाचाजी !"

"तवा भी तो पहिए का ही भाईबन्द है।"

"यह तो आप परिहास कर रहे हैं चाचाजी !"

"बात ही तुम ऐसी कर रहे हो ? केवल चावल खाकर रहने के अभ्यासी तुम नही हो। भोजन के प्रकार मे हठात् परिवर्तन करने से बीमारी का सामना करना पड गया तो ?"

"क्रमशः ही तो कह रहा हूँ।"

"देखो बेटा, विचार की अधिक सूक्ष्मता मे पैठ जाना दुर्बलता है।"

"आप मेरी आत्मा-प्रेरणा के लिए क्यों संदिग्ध होकर मेरे भी सन्देह उपजाते हैं ?"

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपने समस्त विचार और कार्य की प्रणाली के लिए, अधिकाधिक का अनुमोदन पाना चाहिए।"

"नवीन विचार आरम्भ मे अपरिचित और अनभ्यस्त होने से सभी को खलते है।"

"नही ऐसी बात नही है। विचार का एक सागर है वह अनादि है। उसकी नवीनता और प्राचीनता कैसी ? सत्य की एक ज्योति है, जहाँ पर वह प्रकट किया जायगा। उजाला अवश्यम्भावी है।"

"मैं केवल अपने ही विशुद्ध श्रम पर जीना चाहता हूँ। इससे किसी को कुछ हानि न पहुँचेगी।"

"तुम अपना तो बिगाड दोगे। आत्म-हानि भी तो अपराध ही है ?"

"नहीं चाचाजी, कुछ न बिगड़ेगा। अन्तस्तल की पवित्र गहराई में मेरे यह विचार की ज्योति जली है। इसके सहारे आगे बढ़ जाने का मुझे पूरा-पूरा विश्वास है।"

"पग-पग मे मनुष्य को सहयोग सहकारिता आवश्यक है, कहाँ तक मनुष्य की छाया बचाओगे ?"

"धीरे-धीरे चाचाजी ! धैर्य से सब-कुछ सम्भव है। बढ़ना मनुष्य का स्वभाव है, उसमे वेग न होना चाहिए, नहीं ठोकर लग जायगी। वेग से बचने के लिए ही तो ग्राम की ओर बढ़ा हूँ।"

'और यदि असहकारिता को ही तुम बढना कहते हो तो एक दिन

तुम्हे ग्राम छोडकर भी दूर चला जाना पड़ेगा।"

"सहकारिता स्वावलम्बन की शत्रु है। परमुखा पेक्षी होने से स्वावलम्बी जीवन कहीं आदर्श है।"

"तुम अपने ही व्यक्तित्व से उदाहरण ग्रहण करो। समस्त इन्द्रियो की सहकारिता से ही तो तुम आगे बढ़ रहे हो। न केवल आँखें ही तुम्हे बढाती है, न केवल हाथ-पैर ही—दोनो की सहकारिता, दोनो का साम्य। खेत खोदकर तुमने दाना उपजा लिया। कुदाल के निर्माण में तो दूसरे का श्रम है। लोहे में एक की सहकारिता है, तो उसकी बेंट में दूसरे की।"

"मै उन दोनो को भी अपने श्रम मे प्रकट कर लूँगा। जीवन एक प्रयोग ही तो है चाचाजी! उसके कटु और मधुर अनुभवो से ही हमारे पथ का निर्माण हुआ है। कोई हानि न होगी। चलने तो दीजिए।"

"लेकिन यदि इस असहकारिता का ज्वर तुम्हें चढ़ता ही गया तो निश्चय ही तुम्हारे पैर फिर यहाँ भी न टिक सकेंगे।"

"हाँ चाचाजी, अपना भोजन मुझे स्वयं ही बनाना पडेगा।"

"और रहने का मकान?"

"यह भी चाचाजी!"

"तब तुम्हारा पथ इस गाँव से होकर चला गया है!" द्रवित भाव से चाचाजी ने कहा।

"हाँ चाचाजी, नगर से बढ़ा तो ग्राम मे, ग्राम से बढा तो आगे किसी एकान्त कुटीर मे।"

"वहाँ से आगे कहाँ?"

कुछ सोचकर पंडितजी बोले—"हाँ, वहाँ से आगे कहाँ? इस समय नहीं बता सकने पर भी, वहाँ कुछ दिन की अवस्थिति स्पष्ट कर देगी उसे।"

"आगे-ही-आगे? कहाँ तक बढ़ते रहोगे? सब विभ्रम है। कहीं

एक स्थान मे स्थिर हो जाओ। काया की अवस्थिति ही मन की अचलता है और अडिग मन ही मनुष्य की अविनश्वर पूँजी है।"

"तब नगर ही क्यो छोडा ?"

"नगर को लौट जाने को मै तुमसे नहीं कहता। सारा गॉव तुम्हारे स्वभाव और व्यवहार से सन्तुष्ट है। और मैं तो तुम्हारी निर्दोष वृत्तियों मे सुख ही अनुभव नहीं करता तुम्हे आदर्श भी मानने लगा हूँ। केवल कुछ तुम्हारे सिद्धान्त, जिनकी पवित्रता मे मुझे कोई सन्देह तो नहीं है, पर उनका प्रयोग कष्टकर जान पडता है।"

"कष्ट-सहिष्णुता से मनोबल की वृद्धि होती है और कष्टो से बच निकलना रोगो को निमन्त्रण देना है।"

धीरे-धीरे पंडितजी बढ़ चले अपने श्रम के सशोधन की ओर। चाचाजी उनकी केवल गति विलम्बित कर सके उन्हें विरत नहीं।

असौज का महीना था। धरतीमाता पेड-पौधे और पत्ते-पत्ते मे अपने वरदान लेकर खडी थी। घने बादल धरती में हरियाली और आकाश मे स्वच्छ नीलिमा उपजाकर तिरोहित हो चले थे।

किसान की प्रसन्नता का ठिकाना न था। परिपूर्णता से विनत धान के खेतों में वह अपने श्रम को सार्थक और भगवान् की कृपा को साकार देख रहा था।

नदी-नाले, धारे और बावलियों में जल की परिपूर्णता थी। स्थान-स्थान पर नये-नये स्रोत फूटकर बह रहे थे। नवस्नाता प्रकृति अपने सौन्दर्य में निखर उठी थी। दोनो ओर बढी हुई घासो के बीच में मार्ग फिर सुन्दर और स्पष्ट हो उठे थे। सूर्य के ताप ने उनका पानी सुखा लिया था पदांको ने मिट्टी को समता दे दी थी।

वृक्षों में अखरोट और दाडिम-अनार झूल रहे थे। पेड में ही तडक-तड़ककर वे भूमि पर गिरने लगे थे। मानो वे मालिको को उन्हे संग्रहीत कर लेने की चेतना दे रहे थे। क्या यह निःस्वार्थ आत्म-समर्पण

प्रवृत्ति की जड़ता है ? बुद्धि का उपयोग ही क्या मनुष्य की शोषण-वृत्ति का अलंकार है ?

नींबू॰, नारंगी, माल्टा, गलगले और मतकाकड़ी के वृत्तों में उनके फल, पत्तों के ही रंग पहनकर अपने को छिपाये हुए थे। कदाचित् अपने कच्चेपन से मनुष्यों को बचाने के लिए उन्होंने अपने ऊपर यह रंग का आवरण डाल रक्खा था।

मकानों के निकट और सामने के वृत्तों पर तोरई, करेले, खीरे, लौकी और कद्दू की बेलों पर उनके फल लटक रहे थे। कहीं-कहीं गोशाला और मकानों की छतों तक भी ये बेलें पहुँच गई थीं।

जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही शरद् अपनी श्री और सम्पत्ति को अपने शीर्ष में उठाए दिखाई देता है। चारों ओर प्रतुलता, प्रत्येक दिशा मे परिपूर्णता।

आँगन के सन्निहित खेतो में कहीं मोती जड़े, हाथ जोड़े मक्का के पेड़ खड़े थे तो कहीं मिर्च, बैंगन और टमाटर के पेड़ों की पंक्तियाँ। कहीं मूली, आलू, पिनालू और गंडेरी धरती के भीतर अपनी सम्पत्ति छिपाये हुए थे, तो कहीं भिंडी के पेड़ ऊँचे होकर अपनी सफलता की सूचना दे रहे थे। चूवे के पेड़ों में लाल और पीली बालें पक चली थीं एवं उगल के छोटे-छोटे श्वेत फूलों मे एकादशी का फलाहार बढ़ने लगा था।

आँगन के आस-पास सूरजमुखी और गेंदा फूला नहीं समाता था। डलिया, जीनियाँ और गुलबाँक भी। आँगन की दीवारों पर गमले, टीनों और लकड़ी के बक्सों में भी जिरेनियम, सालबिया, एंटरिनम के विलायती फूल भी खिल रहे थे। कौसमियाँ बिलकुल जंगली होकर पहाड़ों पर भी अपने श्वेत और गहरे लाल रंग की अनेक माध्यमिक छायाओं में अपना रूप दिखा रहा था।

खेतों में झुंगर और कौणी के ऊँचे पेडो में प्रत्येक दिशा की ओर लटकती हुई लम्बी-लम्बी बालें नृत्य-बाला के मुक्त कुन्तलों-सी दीख रही थीं। स्वयंवरा वधू-सी अन्न-भार से विनीता शस्य की खेती पवन

के प्रवाह पर लहलहा रही थी। भट्ट, गहन, रैंस और उड़द की दालों के कोष भी बेलो पर पक चुके थे, केवल मुट्ठी बाँधे हुए मडुवे की बालें अभी बिलकुल कच्ची थीं।

पंडितजी खेतो का निरीक्षण करके घर को लौट रहे थे। मार्ग मे उन्हें गाँव के लोहार का घर मिला। लोहार अपनी भट्टी सुलगाकर कुछ लोहा पीट रहा था।

गाँव का वह अछूत लोहार बीज बोने से पहले खेतों में हल भी चलाता था, खेती के तैयार होने पर हँसियो में धार भी चढ़ाता था; ग्राम की आबादी के लिए मकान की दीवारें भी चिनता था और निषिद्ध प्रवेशो के लिए उनमे चौखट तथा द्वार भी जडता था। ग्राम के उत्सवो को वह अपने गीत-वाद्य से सजीवित करता था, विवाह, जनेऊ और जन्म के हर्ष को ढोल, नगाडे, तुरही और भेरी बजाकर मुखरित करता था। ग्राम-जीवन के लिए इतनी उपयोगिता से भरा वह व्यक्तित्व, क्यों उसे अछूत की संज्ञा देकर परित्यक्त कर दिया गया? ग्राम मे क्यों उसे सबसे निष्कृष्ट स्थान अपना घर बनाने को दिया गया? सारा दिन शुद्ध श्रम मे बिताने पर भी क्यो माँग-माँगकर ही उसे अपना पेट भरना पडता है!

पंडितजी को ये प्रश्न विकल कर देते थे। वह अछूतों के साथ निरन्तर सौहार्द की स्थापना करते रहते थे। वह कभी उनकी छाया बचाकर नहीं चलते थे। कभी उनसे दृष्टि नहीं चुराते थे। जो भी, जहाँ भी मिल जाता, उससे अवश्य ही कुछ-न-कुछ बातें कर लिया करते थे। कभी-कभी उनके आँगनों में जाकर बैठ भी जाते। कोई बीमारी मे पड़ा हो तो उसके प्रतिकार के उपाय भी बताते। उनकी गार्हस्थिक उलझनों को भी सुलझाते और उन्हे स्वच्छ रहन-सहन का मूल्य सुझाते तथा दीनता मे भगवान् की निकट अवस्थिति का रहस्य भी समझाते। चाचाजी का बरताव भीउन लोगों के साथ उचित ही था, परन्तु वह इतना निकट सम्पर्क नहीं रखते थे।

पंडितजी भट्टी के निकट की एक दीवार पर जाकर बैठ गए ।

"नही महाराज, कपडे मैले हो जायँगे। यह बोरा बिछा देता हूँ, आप क्षण-भर के लिए उठ जाइए।" लोहार अपना काम छोडकर उठ गया था ।

लोहार अपने जन्म-जात अभ्यास के कारण पंडितजी का स्पर्श बचाना चाहता था, परन्तु पंडितजी ने जान-बूझकर उसके हाथ से बोरा खींचकर स्वयं बिछा लिया। "एक हँसिया मुझे भी बनाना है, ।" उन्होंने कहा ।

"लोहा ले आइए तो अभी बना दूँ," कहकर उसने अपने आसपास देखा। "एक टुकडा है मेरे पास। कहिए तो इसी का बना दूँ ।"

"नहीं, तुम्हारी वस्तु ऐसे ही लेना ठीक नहीं ।"

"दाम दे दीजिएगा ।"

"कदाचित तुम्हे ज्ञान नहीं, मैंने सिक्को का व्यवहार छोड दिया है ।"

"क्यो ?" लोहार ने चौंककर उनको निहारा ।

"यह अनेक बुराइयो की जड है ।"

"बुराइयो की जड ! नहीं महाराज, आदान-प्रदान का सुभीता, नाप-तोल की समता है यह ।"

"कुछ नहीं यह एक कल्पित मान है। कलह का कारण, लालच की जड, शोषण का साधन, चोरों का आकर्षण और पूँजीपतियों का स्तूपीकृत अत्याचार। छोडो इसकी बात !"

"तो इसके बदले में कुछ अनाज दे दीजिएगा ।"

कुछ सोचकर पंडितजी बोले—"ऐसा हो सकता है। यद्यपि पूरी निर्दोषता तो इसमें भी नहीं है ।"

"तो ऐसे ही ले लीजिए ।"

"यह शनिश्चर का दान ऐसे ही न लिया जा सकेगा ।"

"जैसे भी आपकी इच्छा हो।"

"लेकिन यह हँसिया मै ही स्वयं बनाऊँगा।"

"आप ही बनाएँगे ?" लोहार चौक पड़ा।

"हाँ।"

"क्यो ?"

"क्योंकि अपने ही श्रम से मै अपने जीवन का निर्माण कर रहा हूँ। मै अपने अन्न के लिए स्वयं खेत खोदूँगा, स्वयं ही अनाज उपजाऊँगा और स्वयं ही लवाऊँगा। लवाने के लिए हँसिया भी अपने ही श्रम से तैयार करूँगा।"

"इससे लाभ क्या होगा ?"

"मैं समझता हूँ, यदि मनुष्य अपने मे परिपूर्ण हो जायगा तो सारा ग्राम स्वयं ही आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेगा, परापेक्षी न रहेगा।"

"लालटेन और दियासलाई की डिबिया भी आप बना लेंगे ?"

"यही पचास-साठ वर्ष से तो वह चली है। जब पहले दियासलाई नहीं थी तो क्या हमारे चूल्हों में आग नहीं जलती थी ? जब पहले लालटेन नहीं थी, तो हमारे दीपकों मे प्रज्वलित शिखा न थी क्या ?"

"बरतन भी आप बना लेंगे ?"

"जो कुछ न बना सकूँगा, उसका प्रयोग छोड़ दूँगा। जीवन की जटिलता उतनी ही कम हो जायगी। मनुष्य की आवश्यकता कुछ भी नहीं है। इस अभ्यास के जाल को उसने स्वयं ही बुनकर अपने को बन्दी बना रक्खा है।

"मकान भी बना लेंगे ?"

"हाँ, धीरे-धीरे; पूरे लक्ष्य तक पहुँचने मे कई वर्ष लग जायंगे।"

"सभी ग्रामवासी ऐसा करने लगेंगे ? कोई सरकारी आज्ञा ऐसी हुई है क्या ?" लोहार ने सचिन्त होकर पूछा।

"सरकारी आज्ञा क्यो होने लगी ? सभी ग्रामवासी, उनकी मैं कुछ

नहीं जानता हूँ, मै तो अपनी जानता हूँ, अपना स्वामी हूँ। मै ऐसा ही करूँगा।"

"आप पढ़े-लिखे हैं।"

"जो पढाई-लिखाई मनुष्यता या श्रम मे भेद उपजाती है, वह घोर स्वार्थपरता है और स्वार्थपरता से अधिक मनुष्य के विकास का शत्रु दूसरा नही है।"

एक और किसान आकर उनकी बात सुनने लगा था। उसने जिज्ञासा की—"पंडितजी, आप हँसिया बना भी लें, लेकिन उस्तरा नही बना सकते।"

"हानि क्या हो जायगी? उस्तरा नहीं बन सकेगा तो दाढी बढा लूँगा। पहले समय में क्या लोग दाढी नहीं रखते थे? वह तो एक स्वाभाविकता है। स्वाभाविकता ही सौंदर्य है, वही सुख भी है।"

"पंडितजी, आप तो हम अछूतो के प्रति समवेदना रखते है। फिर यह व्यवहार समझ नहीं पडता," लोहार बोला।

"क्यो?" पंडितजी ने पूछा।

"आप लोहा पीट लेंगे, आप मकान चिन लेगे, आप कपडा बुन लेंगे, आप ही खेत खोद लेंगे तो आपने अछूत के सारे पेशे ही छीन लिये। फिर यह उसका कैसा उद्धार हुआ? वह कहाँ जायगा? कैसे उसका भरण-पोषण होगा?"

"सुनो, श्रम के असमान बँटवारे ने ही धन का विषम बटवारा कर रक्खा है। मै चाहता हूँ, प्रत्येक मनुष्य अपने सभी छोटे-बडे काम स्वयं करे। श्रम के भेद ने ही वर्ण की व्यवस्था कर दी है। यदि हम अपने-आप सब काम स्वयं करने लग जायँगे तो वर्ण-व्यवस्था अपने-आप मिट जायगी। इसलिए न समझो मै तुम्हारा पेशा छीन रहा हूँ। मै अपना पंडिताई का पेशा भी तुम्हे देने को तैयार हूँ।"

लोहार ने संड़सी से पकड़े हुए लोहे को गरम होने के लिए फिर

"हाँ, हाँ, कोई सन्देह की बात नहीं है। तुम मेरे निकट जन्म-शुद्ध हो। मैं तुम्हारे गले मे जनेऊ और कान में मन्त्र देकर तुम्हें अन्य ग्रामवासियों के लिए भी शुद्ध कर दूँगा।"

"नहीं पंडितजी, सन्ध्या-पूजा हमारा कर्म नहीं है।"

"क्यों नही है? भगवान् पर सबका अधिकार है। धन-धरती पर न हो, ईश्वर को चाहे जो अपने वश मे कर सकता है।"

"नहीं। जैसे बड़ा छोटा काम करने से पतित हो जाता है ऐसे ही छोटा बडा काम करने से पतित हो जाता है। हम पढे-लिखे नहीं, मन्त्र कैसे पढ़ सकेंगे?"

"मन्त्र भावना के लिए केवल एक शब्दो का जाल-मात्र है। मैं तुम्हें धीरे-धीरे समझा दूँगा। भावो का रहस्य जान लेने पर पंडिताई कुछ भी दूर न रहेगी तुमसे।"

"बडे पंडितजी को यह बात मान्य है?"

"ऐसे दुराग्रही नहीं है वह। फिर सत्य अपने प्रभाव से ही अपने विजय की दुन्दुभी बजाता है। मै इस पार्थिव जगत से मनुष्य के भावात्मक जगत को बडा मानता हूँ। यदि मनुष्य का भाव जागृत हो जाय तो उसके सामने पदार्थ का अभाव कोई वस्तु ही नहीं रह जाता। भाव का अभाव ही तो सारे अभावो का जनक है।"

लोहार कुछ न समझ सका; बोला—"यह तो बहुत दूर की बात जान पडती है। लोहा पीटने मे कहीं आपके हाथ-पैर जल गए तो?"

"बहुत सतर्क और सावधान होकर ही कार्य करूँगा।"

पास बैठा किसान बोला—"ऊँचा सरलता से गिर सकता है, पर गिरे हुए को ऊँचा होने मे बहुत समय और परिश्रम आवश्यक है।"

"मैं नहीं मानता यह बात," पंडितजो बोले।

कुछ देर बाद लोहार ने अपना आसन पंडितजी के लिए रिक्त कर दिया। पंडितजो उसमें आसीन हो गए। उन्होंने लोहा कोयलों के

बीच में खोस दिया। लोहार ने पहिए की धौंकनी की मूँठ चलानी आरम्भ की।

चीड का बल्कल आग मे चिडचिडा उठा और चिनगारियाँ अनार-सी फूट पडीं। पंडितजी धौंकनी पर हाथ रखकर उसे अपनी ओर खींचने लगे—"नहीं, अग्नि भी मेरे ही परिश्रम से सुलगेगी।"

लोहार को पंडितजी का आग्रह मान लेना पडा। पंडितजी मूँठ पकडकर घुमाने लगे पंखे को। हठात् उन्होने उस पर से हाथ खीच लिया।

"क्या हुआ ?" लोहार ने पूछा।

"इस धौंकनी मे पहिया है।"

"तो क्या हानि हो गई। यह तो नये ढंग की धौंकनी है। मुर्दे खाल की श्वास से तो कहीं बढकर है। खाल मे हवा भरो, फिर उसे बन्द करो फिर दबाओ; 'स्वाँऽ स्वाँ ऽ' फिर हवा भरो, फिर दबाओ। जितनी देर मे हवा भरो, उतने में कोयले बुझ जायं। यह पंखा, इसके गोल चक्कर से अटूट धारा हवा की बहती है कोयलो पर।," लोहार बोला।

"नहीं भाई, मैं तो इसे अशुद्ध समझता हूँ।"

"चमड़ा कहाँ है इसमे ?"

"चमडे की साँस अधिक स्वाभाविक है; इसी से अधिक शुद्ध है। पहिया प्रकृति का प्रतियोगी है और हमे आलसी भी बना देता है और लालची भी।"

दोनों श्रोता पंडितजी की बात नहीं समझ सके। लोहार ने पूछा—"तब क्या होगा ?"

एक टीन का टुकडा पडा था निकट ही। पंडितजी उससे आग सुलगाने लगे।

लोहार कहने लगा—"ऐसे लोहा लाल न होगा पंडितजी।"

"हो ही जायगा। धैर्य, लगन और श्रम से सब कुछ सम्भव है।"

"हु मेहनत पड जायगी।"

"वही श्रम की शुद्धि है। श्रम को घटाने का उपाय ही तो उसे अशुद्ध कर देता है।"

"हमारी तो कुछ समझ में नहीं आता, क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध है। आपके बाप-दादा चमड़े को अशुद्ध कहते थे और लोहे की छूत नहीं मानते थे। आप कहते हैं, लोहा अशुद्ध है और चमड़ा शुद्ध। एक ही पीढी मे यह आकाश-पाताल का अन्तर? एक बात तो बताइए पंडितजी, लोहे की आपने छूत मानी लेकिन टीन की नहीं।"

"टीन हाथ में है। हाथ की उपज मशीन की उपज से शुद्ध है।"

किसी प्रकार लोहा गरम करके पंडितजी ने उस पर हथौडा चलाना आरम्भ किया। लोहार अपनी दृष्टि और वाणी से पंडितजी का मार्ग सरल करता जा रहा था।

पंडितजी कभी लोहा गरम करते, कभी उससे पीटते। बहुत समय बीत गया। वह बोले—"तुम्हारे कार्य में विक्षेप पहुँचा है। तुमने मुझे जो लोहारी की दीक्षा दी है, उसके बदले मैं तुम्हें मन्त्र की दीक्षा दूँगा।"

हँसिया बन गया अन्त में। पंडितजी बोले—"यह तो रूसी झंडे का-सा हँसिया हो गया।"

लोहार उससे परिचित न था, बोला—"काली माई के हाथ का-सा खाँडा।"

नौ

मोटर में नौकरी करने के वर्ष-भर पश्चात् जिसने भी लछमियाँ को देखा, नहीं पहचान सका। वेष, बोली, रंग-ढंग, शैली-फैशन शकल-सूरत सभी कुछ बदल गया था उसका।

आचार-विचार, वस्त्र-वेश, रहन-सहन की नवीनता सीख लेने की विचित्र शक्ति निहित थी लछमियाँ में। निरक्षर होने पर भी कल्पना का समुचित विकास उसके भीतर विद्यमान था। पंडितजी के स्कूल के एक वर्ष ने उसके विचारो में निःसन्देह आकृति उपजा दी थी। पत्र पर किसी भी रूप या संकेत में विचारों का अप्राकट्य उसके लिए सहायक ही हुआ था। उसने उसके विचार की एकमुखी उन्नति साधी थी।

कहते हैं लेख लिखने वाला भाषण नहीं दे सकता और वाकपटु लिख नही सकता। बोलचाल की जो दक्षता पंडितजी ने लछमियाँ में जगाई थी, वह हमदम की संगति मे चलने-फिरने लगी। भाँति-भाँति की जनता के संसर्ग मे आया वह मोटर के यात्रियो के रूप मे। देश-विदेश का उसको ज्ञान हुआ। वह अखबार नहीं पढ सकता था, परन्तु निरन्तर समाचारों पर टीका-टिप्पणी सुनता था और साहस तथा निश्चय के साथ भारत की केन्द्रीय एवं राज्यों की हलचलों पर ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी बहस करने को तैयार रहता था।

बहुत दिन तक उसके साथ रहने पर भी कोई यह भेद जान नहीं

सकता था कि वह निरक्षर है। यदि किसी ने उसके सामने उससे यह कह दिया, तो लछमियाँ मरने-मारने को तैयार हो जाता था। वह सगर्व पंडितजी के स्कूल का उल्लेख करता और कहता—"मैने ऐसा स्कूल पास किया है, जो बडे-से-बडो को नसीब नहीं है। बात को समझकर दिमाग मे रखना और वहाँ से निकालकर प्रकट कर देना, यही तो विद्या है। हमारे पंडितजी लिखे-पढो की दुनिया को जालसाजी की दुनिया कहते थे, अखबारों और पोथियों को थोथा आडम्बर।"

क्यो होंगी उसकी आँखें दुर्बल ! चश्मा पहनकर आगे बढ़ जाने का मार्ग दूर तक उसकी मोटर मे दिखाई देगा, ऐसा उसने समझ लिया। चश्मे का एक एजेंट यात्री के रूप मे फँस गया था। चुटकियो में मित्रता बाँध लेता था लछमियाँ किसी से भी और एजेंट लोग भी उस कला मे कुछ कम प्रवीण नही होते।

"एक चश्मे की जरूरत तो मुझे भी है। पहना दो तो एक यादगार आपकी मेरे पास रह जायगी।"

"आपके दाम पहनाएँगे, मै कौन हूँ ? क्या नम्बर है ?"

"नम्बर ?" लछमियाँ बोला, "नम्बर दो और क्या ? काना थांडे हूँ मैं ?"

एजेंट बात समझ गया। कहने लगा—"पढने का चाहिए या दूर तक देखने का ?"

"दूर तक देखने का," लछमियाँ परिहास करने लगा, "मोड के ओट पर की मोटर भी दिखाई दे जाय जिससे एक्सीडेंट बचा लूँ। इतने आदमियो की जिन्दगी हथेलियो पर लेकर चलना पड़ेगा साहब। हमदम साहब कहते तो हैं मुझे ड्राइवरी आ गई। सिर्फ लायसंस मिल जाने की देर है।"

"शून्य नम्बर का ले लो। सबसे ठीक रहेगा। आँखों मे कोई खराबी तो नही है ? आँखों से दिखाई तो ठीक-ठीक देना है न ?"

"आँखों से तो ठीक ही दिखाई देता है, केवल बिना चश्मे के आँखें ठीक नहीं दिखाई देती।"

गाडी चलने मे अभी कुछ देर थी। यात्री भर रहे थे, गाडी पूरी नहीं हुई थी। एजेंट ने चश्मों का बक्स खोलकर लछमियाँ के चकाचौंध उपजा दी।

नाक के नीचे की उगती हुई काली रेखा पर उस्तरा चलाने लग गया था लछमियाँ। नाक के ऊपर चश्मे की चमकती हुई डंडी रख लेने के लिए वह अधीर हो उठा। उसने एक के बाद दूसरे चश्मे पर हाथ रक्खा। एक चश्मा आँखों पर जमाने के बाद उसने कहा—"दर्पण नही है तुम्हारे पास ?"

"दर्पण क्यों चाहिए ?"

"दुनिया कैसा देखेगी मुझे, यह देखने को।"

"चश्मे का मतलब तो है आप दुनिया को कैसा देखेंगे ड्राइवर साहब !"

"मैं तो ठीक ही देखता हूँ। रोग तो दुनिया की दृष्टि मे है। मैंने पंडितजी का स्कूल पास किया है, पर दुनिया मुझे पढा-लिखा मान लेने को तैयार नही। अभी आता हूँ," कहकर लछमियाँ एक पान-वाले की दूकान पर चला गया और उस दूकान पर लटकने वाले दर्पण मे अपना रूप निहारते हुए सोचने लगा—"अब कोई क्या शक कर सकता है, मेरे ऊपर ! बढ चला; लछमियाँ बढ चला !"

पान देते हुए पनवारी बोला; "है, है ! आज तो चार आँखें हो गईं तुम्हारी।"

"ठीक दिखाई दे रहा हूँ ?" कहकर फिर लछमियाँ ने दर्पण में निहारा।

"हाँ, हाँ ! प्रोफेसर जैसे !"

"और प्रोफेसर जब पहाड की हवा खाने के लालच में मेरी मोटर में बैठ जाता है तो सच कहो क्या उसके जीवन-मरण का प्रश्न मेरी

मुट्ठी मे नहीं समा जाता। अब तो सीधी-सीधी सडकों पर ही नहीं, मोडों पर भी मैं उस्ताद के हाथ से मोटर का चक्का अपने वश में कर लेता हूँ।"

"किसकी मुर्गी बनाई?"

"मुर्गी क्या बनाई, नगदनारायण खर्च किये है यह," कहकर लछमियाँ हमदम के पास उनकी स्वीकृति के लिए गया।

"क्या लच्छन है रे लछमियाँ यह तेरे?"

"आँखो का बीमा कराया है उस्ताद!"

"चल, चल, सवारियाँ बिठा। देर हो रही है। भगवान् की दी हुई आँखो का भरोसा नही, चश्मे से फोडेगा उन्हें?"

"नंगी आँखों की रक्षा के लिए। नंगे पैरो पर जूता क्यो पहनते हैं लोग? खरीद लूँ उस्ताद?"

"आंखें तेरी, पैसा तेरा। मुझसे क्या पूछता है?"

वह तो नहीं, हाँ उसी फ्रेम का दूसरा चश्मा चढ ही तो गया लछमियाँ की नाक पर। कोट-पतलून, हाथ पर घडी, पैर मे बूट, सिर पर तिरछी माँग, नाक पर चश्मा, मूँछो पर सेफ्टी, मुँह में सिगरेट और दाँतों पर बुरुश। क्या शेष रह गया फिर लछमियाँ के आगे बढ जाने में?

मेज पर बैठकर होटल में खाना खाता है; रूमाल से हाथ पोंछ-कर मोटर पकड लेता है बखत मे; हिन्दुस्तान के दोनो टुकडों पर भीषण भाषण दे डालता है; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गाँठो को सुलझाता है, बर्थ-कंट्रोल से लेकर दाने-पानी के कंट्रोल तक का इतिहास सुनाता है; चोर-बाजारी के हथकंडो की विवेचना भी करता है और रात को सोते-सोते स्वयं पूँजीपति बन जाने के सपने भी देखता है; कभी गीता के विराट् ब्रह्म की चर्चा करता है तो कभी परमाणु बम का भी वर्णन करता है, अब क्या संशय है लछमियाँ के आगे बढ जाने मे?

वह कहता है—"साहब चले गए यहाँ से, साहबी ठाठ थोड़े जा सकता है ? उसी ठाठ पर तो आगे बढने की कुंजी लटकती है । नहीं तो कौन किसका कहना मानता है ?"

साहबी खान-पान, रंग-ढंग, चाल-ढाल, अकड़-फूँ, कोट-पतलून सब समावेशित हो गए थे लछमियाँ मे । केवल एक टोप की कसर थी । टोप को वह सर्वगुण-सम्पन्न चाय की उपमा देता है । सभी ऋतुओं में उपयोग की वस्तु, गरमी मे धूप, बरसात मे बारिश और जाडों में हिम और ठंडी हवाओ से रक्षा करती है; चाय शरीर के भीतर फुरती उपजाती है तो टोप शरीर के ऊपर फुरती पैदा करता है । लोग रास्ता छोड देते हैं, आसानी से आगे बढ़ते जाइए । टोप पहनकर जो कुछ कहिए उसमें शक्ति पैदा हो जाती है और कोई बात टाल नहीं सकता । जिधर चले जाइए, लोग उठ-उठकर अभिनन्दन करने लगते है ।

टोप पहन लीजिए । भीड में पहले सौदा या टिकट मिल जायगा । रेल मे दस सहयात्री खडे-ही-खडे यात्रा कर लेगे पर सोते हुए टोपवाले को जगा लेने की उनकी हिम्मत हो नहीं सकती । लछमियाँ कहता है—"आगे बढ जाने के तोप और टोप यही तो दो साधन है । प्रत्येक मनुष्य तोप तो क्या बन्दूक भी नही रख सकता, पर टोप, इस पर केवल पैसे के प्रतिबन्ध के सिवा और कोई रोक-थाम नही ।"

"तोप और टोप ! क्या अन्तर है दोनो में ? मैं कहता हूँ एक भी अक्षर का अन्तर नही है । दाँतो से जरा-सा एक-दो सूत जीभ ऊपर तालू पर मारिए तोप ही टोप हो जायगी । विदेशी इन्ही की सहायता से भारत में बढ़े थे, और बढने वाले अब भी बढ़ ही रहे है ।"

ड्राइवर होते ही टोप पहन लेने का निश्चय किये हुए है लछमियाँ । क्लीनर होने के कारण गाडी की सफाई के सारे हाथ उसे अपने कपड़ों ही पर तो पोछने पडते है । टोप पहनकर यदि वह उससे उजला न रख सका तो फिर लाभ ही क्या ?

नये चश्मे से विभूषित होकर लछमियाँ गाड़ी पर आया । एक बाबू

साहब अपना लगेज भूमि पर रक्खे लछमियाँ से बोले—"क्यो साहब, क्लीनर कहाँ है ?"

लछमियाँ बाबू साहब को देखकर विजय के उल्लास मे हँसा। मोटर की छत पर चढ़ते हुए बोला—"आपको यह बिस्तर ही तो रखवाना है न मोटर मे, लाइए मैं रख देता हूँ।"

लछमियाँ ने बिस्तर ऊपर जमा दिया। बाबू साहब ने उसे थैंक्स भी दिये और चाँदी के डिब्बे मे से सिगरेट भी। लछमियाँ मन मे बोला—"और जब सिर पर टोप चढ जायगा तो फिर ?"

हमदम ने भोंपू बजाया—"चल भाऽऽई।"

"बैठ गए सब ?" लछमियाँ ने जिज्ञासा की। वह मोटर के अगले भाग पर गया और हमदम की सीट के नीचे से पानी का टीन निकालने लगा।

हमदम ने आदर प्रकट करके उसे अभिवादन किया। लछमियाँ संकुचित हो टीन निकालकर चला गया। इंजन मे पानी भरकर वह हैंडल देने लगा।

हमदम बोला—"चश्मा तो निकाल ला आफ़िसर साहब! गिर गया कहीं तो अभी पैसे वसूल हो जाएँगे।"

लेकिन न लछमियाँ ने उसे उतारा था और न वह गिरा ही।

गाडी चली और हलद्वानी से चलकर कुछ देर चलने काठगोदाम में दम ली और फिर तिपनियाँ ही जाकर चाल तोड़ी। हमदम ने हलवाई की दूकान के निकट मोटर रोक दी। यात्री उतरने लगे। कोई चाय-नाश्ते के लिए और कोई छोटी बड़ी शंकाओं के समाधान के लिए तथा कोई बिना किसी मतलब के भी।

एक यात्री जिसे तिपनियाँ ही उतर जाना था, लछमियाँ से बोला—"नारंगी रंग का एक ट्रंक निकाल देना ऊपर से।"

लछमियाँ नाक पर चश्मा जमाता हुआ मोटर की छत पर चढा। छत से उसका सिर उठा ही था कि हलवाई की दूकान के दोतले ने

खींच ली उसकी दृष्टि। कंधों पर बड़ी उदासीनता से अपनी हरी साड़ी का छोर लटकाए एक सुन्दरी खड़ी थी। साड़ी पर चमक रहे थे उसके सुनहरी फूल और साड़ी के पीछे खिल रहा था लाल गोट से युक्त उसका नारंगी जंपर।

रंग रंग मे मिल गया और ट्रंक नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व लछमियाँ के मस्तिष्क मे न जाने कहाँ घुल गया।

बाला नंगे सिर अपनी वेणी गूँथ रही थी। लछमियाँ ने देखा, टक बाँधे वह सुन्दरी उसी को निहार रही थी। हृदय में न-जाने उसने कितने पूर्व परिचय छिपा रक्खे थे।

लछमियाँ सोचने लगा, इसे कहाँ और कब देखा है। वह छत पर चढा, दृष्टि उधर ही चिपक गई थी उसकी। उसे हार मानकर अपने नेत्र विनत कर देने पड़े—"कौन है यह? मैंने कभी नहीं देखा है इसे। फिर इतने मोह से इतनी देर तक इसका मुझे देखने से मतलब?" उसने अपनी पतलून की जेब से एक मैला रेशमी रूमाल निकाला और चश्मा उतारकर उसके लैंस साफ करने लगा। एक क्षण ही तो उसकी आँखें हटी थीं, उसी मे एक कल्प बिता गया लछमियाँ।

उसने फिर साहस जमाकर उस सुन्दरी की ओर निहारा। केवल हाथ ही गतिशील थे उसके और उसी भावुकता मे वह लछमियाँ पर आँखें गड़ाए खड़ी थी। उसने बँध-चुके जूड़े को फिर खोल दिया था और फिर वह नागिन-सी लटों मे ग्रन्थियाँ उपजाने लगी थी।

अपनी जगह से उठकर दूकान की ओर बढ़ते हुए हमदम की भी दृष्टि उधर ही खिंच गई। 'कोई यात्री होंगे,' मन मे कहकर वह हलवाई के समीप के रिक्त बेंच पर बैठ गया, पर अपना कौतूहल मिटा न सका।

हमदम ने दूकानदार से पूछा—"ऊपर कौन आये हैं आज तुम्हारे? देश को जायँगे या पहाड़ को?"

हलवाई हँसा—"ये न देश जायँगे न पहाड, कहीं न जायँगे, यही रहेंगे।"

"मजाक क्यो करते हो ?"

"सच ही कह रहा हूँ हमदम भैया, तुम मुझसे उमर मे इतने बडे, तुमसे हँसी क्यो करने लगा ?"

धीरे-से हमदम ने पूछा—"कौन है ?"

एक ग्राहक ने बाधा दी—"नीबू कितने-कितने के है ?"

हलवाई ने उत्तर दिया—"चार-चार आने।"

"चार आने।" होठ काटकर ग्राहक चलता बना।

"बाईजी है," हलवाई ने हमदम का समाधान किया।

"कौन बाईजी हैं ?" हमदम की उत्सुकता बढ उठी।

"यह श्रीमती परुली बाई हैं।"

हमदम समझ गया। नाम सुन रखा था उसने उसका। पर फिर भी उसका एक संशय अभी शेष ही था—"यहाँ क्यो आ गई नगर से ?"

"यहीं रहेंगी। अब नगर मे रहने का हुक्म नहीं है इनको।"

हमदम घबराया—"अरे बाप रे! यह नगर का बबाल ग्राम की ओर किसने हाँक दिया ? इस मोटर की सडक पर, जहाँ से हर रोज बिचारा हमदम अपनी रोजी के दाने बीनता हुआ आता-जाता रहता है। वैसे ही वह गरीब बदनाम है। क्यो, हुक्म क्यो नहीं ?"

"बस नहीं! पंचो ने मीटिंग करके पास कर दिया हुक्म नहीं। फिर बोल कौन सकता है ? और म्युनिसिपैलिटी ने एक उपनियम बनाकर अपनी सीमा के बाहर निकाल दिया इन सबको।"

"और कहाँ गई ?"

"चली गई होंगी। नगर मे जगह न मिली तो फिर गाँवों की ओर ही तो। एक तिपनियाँ के भाग में भी लिखी होगी। कम है ?"

"क्यों, इनका कसूर क्या है ?"

"इन्होने प्रेम का मोल-तोल किया है।"

"तो समाज ने इसे नीच बनाकर अपना बदला ले लिया? बाजार मे और भी तो चोर बसते है। क्या वे सत्य, धर्म और न्याय का सौदा नहीं करते? फिर बाजार की कालिमा यही क्यो समझी गई?"

"तुम्हे क्या पड़ी है हमदम! तिपनियों की रौनक बढ़ेगी।"

"तुम खुदगरज हो। सौदा बिकेगा तुम्हारा भी। इसलिए तुमने सिर पर बसा लिया इसे।"

"क्या करता! मेरे पैरो पर सिर रखकर रोने लगी। बेचारी नगर से निकाल दी गई। मुझे दया आ गई। मकान खाली था; दे दी जगह। दूकानदारी करनी नही हुई मुझे? वेश्या है तो क्या हुआ? शरीर बेचती है केवल, मन का सौदा तो नही करती? वेश्या है, चोर तो नहीं है? मैने बडी सच्ची और नेक वेश्याएँ देखी है।"

"तुम बड़े पक्के व्यापारी हो। पगली के नागरिक दोस्त उसके दरवाजे का रास्ता टटोलते हुए आने लग गए होगे यहाँ तक। अब उनके सिगरेट के पैकेट, चाय के गिलास और पान के पत्ते तुम्हारी ही दूकान से जायँगे। अच्छा एक गिलास बढिया चाय तो बनाओ। कहाँ गया रे लछमियाँ, खायगा कुछ?" हमदम ने इधर-उधर दृष्टि की। उसे कुछ पता न था कि उसका क्लीनर मोटर की छत पर पतंग उडा रहा है।

फिर लछमियाँ को आँखें नीची कर लेनी पडीं। वह नीचे के लोगो की दृष्टि बचाकर एक बक्स के ऊपर उस सुन्दरी की खिडकी की ओर मुख करके बैठ गया। उसने फिर उसे निहारा। इस बार वह सुन्दरी मुख मे एक हलकी मुसकान खीचकर बिजली के वेग से घूम गई और मकान की ओट मे चली गई।

लछमियाँ मन मे कहने लगा—"चश्मा पहनते ही यह किधर बढ चला मैं? जादू-सा डालकर यह किधर छिप गई? कदाचित् कोई धोखा हो गया इसे। मैंने ऐसी सुन्दरी कभी कोई देखी ही नहीं।"

लछमियाँ की नस-नस मे एक मधुर रागिनी बज उठी। उसने धीरे-धीरे सीटी में सिनेमा के सस्ते-से-सस्ते गीत के सुर बजाने शुरू किये। सुन्दरी फिर न दिखाई दी। लछमियाँ सोचने लगा—"जरूर मकान की किसी दराज के बीच से वह मुझे देख रही है।"

लछमियाँ के स्वप्न का जाल तोड दिया उस यात्री की पुकार ने—"क्यो भाई! कहाँ गायब हो गए? नारंगी रग का ट्रंक नहीं उतारा अभी तक?"

लछमियो सँभला, उठ खड़ा हुआ। उसने खिडकी की ओर देखा, सुन्दरी लौटकर नही आई थो। लछमियाँ ने ट्रंक उठाकर उस खिड़की की ओट पर लटका दिया—"लो, अपना ट्रंक पकडो।"

यात्री अपना ट्रंक भूमि पर उतारकर चलता बना और लछमियाँ फिर भी छत पर ही मँडराता रह गया। उसने छत पर के समस्त ट्रंक और बिस्तर इधर-के-उधर रख दिए बडा विलम्बित गति से; लेकिन वह सुन्दरी उसे नहीं दिखाई दी।

हमदम ने फिर पुकारा—"लछमियाँ रे!"

घबराकर लछमियाँ ने उत्तर दिया—"हाँ उस्ताद आया, लगेज निकाल रहा हूँ।"

"कैसा लगेज निकाल रहा है? एक ही ट्रंक तो था।"

"शेष को जमाकर रख रहा हूँ। कोई लुढक गया तो?" कहकर लछमियाँ मन मे कहने लगा—"तो क्या वह केवल एक विचार था? मै धोखा खा गया? कोई परीक्षा थी मेरी? इस मकान मे कोई भूत-प्रेत तो नहीं बस गए। दिन मे, भरी दुपहरी मे?"

लछमियाँ घोर निराशा मे धीरे-धीरे मोटर की सीढी पर उतरने लगा, उसकी दृष्टि उसी खिडकी पर टँगी थी। दो-तीन सीढियों पर वह उतरकर जब चौथी सीढी को अटकल से पैर के लिए पकड रहा था तो फिर खिडकी पर चन्द्रमा-सा निकल आया।

लछमियाँ जहाँ-का-तहाँ रुक गया। चश्मा निकालकर फिर पोछने

लगा। सुन्दरी ने फिर उसे देखा, वह फिर मुसकाई और फिर पीठ फिरा-कर चल दी।

"नहीं, कोई धोखा नहीं है," ऐसा पक्का आश्वासन पाकर लछमियाँ उतरकर हमदम की बैंच पर जाकर बैठ गया। उसका मुँह उतर गया था और उसने अपने एक हाथ मे पतलून की पेटी पकड रखी थी।

"खाओगे नही कुछ ?"

"नही उस्ताद !" लछमियाँ ने कराहते हुए मुख बिगाडकर कहा।

"क्यो ? रोते क्यों हो ?"

"पेट मे दरद होने लगा।"

"कब से ?"

"हलद्वानी से ही शुरू हो गया था। इस समय बढ गया।"

"रात बकरा खा गए थे तुम। अकेले खाना ऐसा ही होता है," हमदम बोला," गरम-गरम चाय पी लो।"

"पी लूँगा," बडी अधीनता से लछमियाँ ने कहा।

"अजवायन भी है ?" हमदम ने दूकानदार से पूछा।

हमदम को दूकानदार से बातो मे उलझा समझकर लछमियाँ को अवसर मिला। उसने दो तले पर दृष्टि की।

और उस दृष्टि की आकुलता को हमदम ने पकड लिया, जब उसने बीच ही मे लछमियाँ की ओर गरदन फिराकर उससे पूछा—"आज..."

लछमियाँ हडबडाकर उस्ताद के मुखाभिमुख हुआ। हमदम ने अपना वाक्य तोडकर स्वयं उस खिडकी की ओर देखा। कोई न था वहाँ पर।

"क्या उस्ताद !"

"उधर क्या देखते हो ?"

"कुछ नहीं।"

"शेरनी की माँद है उधर, कह दिया। खबरदार ! फिर कहेगा

बताया भी नही । इधर देख जमीन पर ।"

लछमियाँ ने मुख बिगाडकर पेट दबाया—"उफ बडी पीड़ा है ।"

"अजवायन की चाय पियेगा ?"

"हाँ पिऊँगा," कहकर लछमियाँ मन के भीतर टटोलने लगा—"शेरनी कैसी होगी यह ? कोई वेश्या है क्या ? लेकिन बडी सुन्दर है । मुझे कहाँ से पहचानती होगी यह । वेश्याएं ऐसे ही जाल डाल देती हैं ।"

हठात् हमदम बोला—"देर हो रही है । अजवायन चबा लो, ऊपर से चाय पी लो, बात एक ही है ।"

"नही उस्ताद, चाय नस-नस मे घुस जायगी ।" लछमियाँ बैंच के ऊपर दोनो पैर समेटकर जाँघों और पेट के बीच में अपने दोनो हाथ डालकर बैठ गया ।

"अभी तो अच्छे-खासे थे । अभी-अभी क्या हो गया यह तुम्हे ? अजवायन की चाय बना दो जी । सोठ नहीं है ?"

लछमियाँ ने सिर भी पकड लिया—"माथे मे भी दरद हो रहा है ।"

"चश्मे से हो गया होगा ।"

"नहीं उस्ताद मुझसे तो नहीं चला जाता । यहीं छोड जाइए ।"

"यहाँ कौन तुम्हारी देख-रेख करेगा ?"

"यहीं दूकान मे पड रहूँगा । एक-दो बार खाना नहीं खाऊँगा, ठीक हो जाऊँगा । कल तुम्हारे साथ हलद्वानी चलूँगा ।"

"आगे के बैंच पर एक सीट खाली हो गई है । एक को पीछे बिठा दूँगा । चाय पीकर चल, उसमे लिटा दूँगा तुझे । काम कुछ मत करना । पानी भी मै ही भर लूँगा और सामान भी चढा-उतार लूँगा । अलमोडा चलकर किसी डाक्टर को दिखा दूँगा । यहाँ कौन है ?"

लछमियाँ को विवश होना ही पडा । उसने ठण्डी साँस की तुक मिलाई उस नवीन परिचय से, परन्तु दृष्टि निराश होकर ही लौटा लेनी

पडी । तीखी और चरपरी चाय पीकर उसे चढना पडा हमदम के सहारे मोटर पर । हमदम क्या जानता था लछमियाँ की बीमारी ?

रोगी को सीट पर लिटाकर हमदम ने स्वयं ही हैडल दिया और मोटर के द्वार बन्द किये । मोटर चली, लछमियाँ ने फिर सिर उठाकर उधर देखा । कोई नही था वहाँ । हमदम की उस समवेदना पर उसे रह-रहकर क्रोध आ रहा था । दूसरे दिन संध्या समय तिपनियाँ लौट आने की आशा पर ही जीना पडा उसे । पेट की पीडा का अगला इतिहास कैसा होगा, इस विचार को करते हुए लछमियाँ ने सीट के अधिकांश मे अपने पैर फैला दिए ।

शाम को मोटर अलमोडे पहुँची । यात्री सब गाडी खाली कर चले गए । हमदम हलद्वानी से कुछ माल भरकर लाया था । कभी कभी यात्रियो की कमी उसे इस प्रकार पूरी करनी ही पडती है । लछमियाँ तो उसे बिलकुल माल ही ढोने की राय देता है । वह उसी मे रुपया बना लेने के अवसर देखता है । लेकिन हमदम पैसे को कोई चीज नही गिनता । वह माल ढोने को निरी कुलीगिरी समझता है, और मोटर को केवल मालगाडी बना देने के वह सर्वथा विरुद्ध है ।"

वह कहता है—' बोझा ढोकर पैसा कमा लिया तो क्या ? चोर बाजारी से धन जमा कर भी लिया तो क्या ? सवारियाँ ले जाने में दस भले-बुरे आदमियो का संग होता है । हँसी-खेल मे रास्ता कटता है । बीस तरह की बातें सुनने को मिलती है । अरे यही तो दुनिया है । कमाया और अकेले-ही अकेले खाया । यह भी कोई बात हुई !"

तमाम मोटर वालो का एक संघ था, लेकिन हमदम एक अजीब ही प्रकृति का जीव था । वह उस संघ मे कभी शामिल ही नही हुआ । सब एक ओर और हमदम अलग ? उसे भेडियाधसान पसन्द न थी । वह अपनी खिचडी अलग ही पकाने चला । जो लोग उसे मेल के लाभ बताते, उनसे वह कहता—"मेरी दुश्मनी किससे है ? अपनी आदत अपनी मौज, मै साझे के धंधे को पसन्द नहीं करता । मै क्यों मोटर

संघ के कायदों में अपनी गरदन फँसाऊँ ? मेरी मौज ग्यारह बजे चलने की हो तो मै क्यो सात बजे चलूँ । मेरी इच्छा रात हलद्वानी मे ही काटने की हो, तो मै क्यो अलमोडे के लिए पेट्रोल भरूँ ?"

हमदम अकेला ही चला । और इस अकेलेपन को उसके चेले लछ्मियाँ ने तो और भी बढ़ा दिया ।

हमदम ने लछ्मियाँ का मुख उघाडकर कहा—"अलमोडा आ गया । कैसे रंग हैं ?"

रंग क्या थे लछ्मियाँ के ! जिस भूमिका के प्रदर्शन के लिए पेट की पीडा पहनी थी, उसका तो अड्डा ही उड़ा दिया था हमदम ने । भूख के मारे उसके पेट मे चूहे उछल-कूद मचा रहे थे । वह खाने को कहे तो कैसे और न खाये तो रात कैसे कटेगी ? वह दुविधा में पड़ा सोचने लगा ।

हमदम ने उसे झकझोरकर कहा—"क्यो ? कैसा है दरद ? तुम तो सो गए । जान पडता है ठीक हो गया ।"

लछ्मियाँ के उस पहले ही उत्तर मे उसकी सारी पीडा इधर की उधर थी । उसने सोच लिया था—"ठीक हो गया या हो रहा हूँ कह देने से तो यह फिर कल सीधे हलद्वानी ही पहुँचकर दम लेंगे । भूख की दवा हो जायगी कुछ-न-कुछ ।" यह कराह उठा—"अँऽऽऽ"

"बुखार तो नहीं है ?" हमदम ने लछ्मियाँ की हाथ की नाड़ी पकडी "नहीं ।"

"है थोडा-सा ।"

"तब सिर्फ दूध पी लेना ।"

लछ्मियाँ चुप रह गया ।

"मै सेठजी की दूकान पर हो आता हूँ । अपने आदमी भेजकर तेल के कनस्तर उतरवा ले जायंगे । तुम यहाँ हो ही," कहकर हमदम नगर की ओर चला गया ।

लछ्मियाँ ने सिगरेट निकालकर सुलगाई और उस अभिनय से

थोड़ी देर के लिए छुट्टी पाई। वह सोचने लगा—"मेरा कहा मानते तो कुछ फायदा भी होता। वह तो मै ही हूँ जो तरह-तरह की तरकीबें लडाकर इनके लिए रुपया बटोर देता हूँ। जो भी हो, है आदमी उदार। जब जितना रुपया माँगता हूँ बिना कोई दूसरा प्रश्न किये दे ही देता है।" और फिर उसके हृदय के आकाश के बादलो को चीरकर वही चन्द्रमा निकल आया, सारा दिन जिसकी पहेली को हल नहीं कर सका था।

"उस्ताद ने वहाँ शेरनी की माँद क्यो बताई? क्या कोई नाचने वाली वहाँ आकर रहने लगी है? पर उसके मुख पर एक अद्भुत रूप था। उसमे हिंसा का कोई भी भाव न था। पंडितजी ने तो स्कूल की शिक्षा मे नाच को एक खास जगह दे रखी थी। वह कहते थे मनुष्य की प्रसन्नता का चरम विकास ही नाच है। वह स्वास्थ्य को ही नही बढाता; वह मन को भी तृप्त कर देता है। नाचने वाली; उसे शेरनी क्यो कह दिया उस्ताद ने? वह झूठ तो नही बोलते कभी। फिर? हँसी मे कह दिया होगा।"

मोटर-स्टेशन के निकट ही एक खोमचे वाला तेल मे बेसन की पकौडियाँ बना रहा था। हवा के एक झोके के साथ उसकी गंध ने मोटर के भीतर प्रवेश किया जहाँ वह लछमियाँ प्रेम और रोटी के ऊपर रोग का परदा डाले पडा था।

पकौडियो की मधुर गन्ध से वह बेचैन हो उठा। कम्बल वही फेककर वह भागा दूकान पर और चार आने की गरमा-गरम पकौडी ले आया, मोटर की सीट पर बैठकर चट कर गया, नल पर जाकर एक लोटा पानी डकार गया और तृप्ति की साँस लेकर फिर अपनी मोटर पर जम गया।

कुली आकर तेल के कनस्तर उतारने लगे और लछमियाँ उन्हे देख फिर तानकर सो गया—"मुझसे बोलो मत कोई। आठ टीन रखे हैं; उतार ले जाओ।"

नहीं उठा लछमियाँ। घर, दूकान और मार्गों पर दीपक जल उठे थे। लछमियाँ सोचने लगा—"हमदम उस्ताद अभी तो क्या लौटेंगे? मित्र-दोस्त मिल गए होगे तो फिर क्या कहना है! बटुवा नोटो से भरा है। जाते बखत मैने माँग भी नहीं लिया। जनम के आजाद हमदम आज पूरा खेल खेलकर ही आयंगे। मै अकेला कैसे न जाने देता उन्हे? लेकिन मेरी राह पर क्यो काँटे बिछा दिये उन्होंने। अच्छी पेट की पीडा हुई! मै तो दिन-भर भूखा मर गया और हमदम के पल्ले पड गई सुनहरी रात।"

टीनो के उतर जाने पर लछमियाँ फिर स्वस्थ होकर उठा। एक सीट पर उसने उस्ताद का बिस्तर खोलकर बिछा दिया और एक पर अपना डौल जमाया। जाने उसे कब नीद आई और कब हमदम वापस आए!

बडी देर मे हमदम वापस आए, सिनेमा देखने चले गए थे। पकौडी वाला अपनी थालियाँ, टाट और पटले समेट रहा था। हमदम ने दो रुपये का एक नोट दूकानदार को देकर एक सिगरेट की डिबिया माँगी।

खरीज गिनकर सिगरेट के साथ हमदम ने जेब मे रख ली और नोट लौटाकर कहा—"इसे बदल दो।"

"क्या हो गया?"

"तेल मे सना है।"

दूकानदार ने नोट लेकर लालटेन की रोशनी पर उठाकर जाँचते हुए कहा—"अभी लछमियाँ पकौडी ले गया था, वही दे गया है; दूसरा है नहीं और।"

हमदम ने नोट वापस ले लिया और मोटर की ओर जाते हुए मन मे कहने लगा—"पकौडी ले गया लछमियाँ? वह तो कहता था बुखार है। भूख लग गई होगी बेचारे को।"

मोटर पर आकर हमदम ने पुकारा—"लछमियाँ!"

वह घुर्र-घुर्र कर सो रहा था। हमदम ने कहा—"चलो सोने दो। रात को ठीक नींद आ जायगी तो सुबह जरूर तबीयत बिलकुल साफ हो जायगी।"

परन्तु जब ठीक समय पर लछमियाँ न उठा तो हमदम ने उसे उठाकर कहा—"क्यो ठीक नही हुए क्या ?"

लछमियाँ बोला—"नही।"

"पकौडियाँ क्यो खा मरे फिर ?"

लछमियाँ चुप रहकर सोचने लगा—"दूकानदार ने कह दिया होगा। भला उस बेईमान को अपने पैसो से मतलब था या मेरे पकौडी खाने से ?"

"चलो अस्पताल चलो।"

"नहीं, वहाँ न जाऊँगा।"

"क्यों ?"

"मोटर का समय आ रहा है। हमे अकेली मजूरी करनी है। यात्री सब निकल गए तो ?"

"तकदीर हमारी है। हमदम किसी के बाप का नौकर नहीं है। वह नहीं करेगा आज मजूरी; नहीं जायगी आज कहीं उसकी मोटर। जान है तो जहान है और अपने साथी की जान अपनी जान है; चलो उठो।" हमदम ने उसे उठाते हुए कहा—"तुम्हारे लिए एक दिन नही मै चार दिन भी यहाँ ठहर सकता हूँ।"

लछमियाँ के मुँह से लार टपकने लगी, वह मन में बोला—"यहाँ ठहरने से क्या लाभ होगा ? तिपनियाँ मे एक रात भी ठहरे तो कोई बात भी हो।"

"इतना सोचने की बात नहीं है मिस्टर ! अच्छा चश्मा पहना तुमने ?"

चश्मे को तो बिलकुल भूल ही गया था लछमियाँ। मोटर मे लेटते

समय उसने उसे डिब्बे मे डाल सिरहाने रख दिया था। हाथ डाला, निकल आया वह।

"पहनकर चलो। अस्पताल भी नजदीक है और नगर के सभी डाक्टर हमदम को जानते है। इस चश्मे को जँचवा लेंगे, कहीं इसी ने तो नही फैला दी तुम्हारी बीमारी ?"

और उस समय लछमियाँ मन मे कह रहा था—"तिपनियाँ मे ही डेरा पड़ेगा आज हमारा। मै मोटर के इजन मे हथौडा मारकर उसे बेकार कर दूँगा तिपनियाँ पहुँचते ही। मैं और कोई पेच या तार निकालकर फेंक दूँगा या तोड दूँगा। फिर कैसे नहीं रुकेंगे यह वहाँ ?"

"चलो फिर, सोचते क्या हो ? नहीं ले जायंगे आज सवारी," हमदम ने कहा।

लछमियाँ उठ बैठा—"अच्छा आज माल ही भरेंगे।"

"माल ही भर ले जाना।"

"मैं ही भरूँगा—अपने मन से।"

"क्या भरोगे ? कहाँ से ?"

"यह सब नहीं बताऊँगा।"

"ब्लैक का माल तो नहीं भरोगे ?"

"आज ही नहीं, अब रोज माल ही भरेंगे।"

"अरे बुढापे मे हमदम को जेल के भीतर पहुँचाओगे क्या ? नहीं लछमियाँ, किसलिए ? हमदम अकेला दम, वह अपनी आशाएं नहीं बढाता। भगवान ने उसे बहुत दिया है।"

"बहुत दिया ? हाथो मे लेकर खाना खाते हो। जिस बैंच मे दिन-भर बैठकर मजूरी करते हो, रात को उसी मे तुम्हारा बिस्तर लगता है। जो कम्बल पारसाल तुम्हारे पास था उसके और भी तार-तार उड चुके है इस साल। जो फटा कोट बरसो से तुम पहनते चले आए हो, वही आज भी तुम्हारे रात का सिरहाना है। दुनिया किधर बढ़ती जा

रही है उस्ताद, और तुम झूठे सन्तोष के शब्द मे अपनी कमजोरी सजाते चले जा रहे हो।"

"कमजोरी कैसी बे ?"

"डरते जो है आप इतना। मै कहता हूँ ब्लैक का माल उतना ही भारी भी तो है, इमो से उसका उतना भारी भाडा भी है। देख नही रहे हो, जिनके कल रहने का ठिकाना नही, आज महल खडे हो गए उनके। हमारे क्या हाथ-पैर नहीं है, या दिमाग मे गोबर भरा है ? मै कहता हूँ, अगर कही हमारा अपना एक गोदाम होता तो भाडा ढोना क्या अपना व्यापार चलता और आनन-कानन मे सोने के पहाड जमा कर लेते।" लछमियाँ ने कहा।

"अरे क्या माया के चक्कर मे फँस गया तू ? जान पडता है, तेरे पेट का दरद हलका पड गया।"

"कैसा माया का चक्कर ! यह माया का चक्कर वही लोग कहते है, जिनकी गाँठ मे कानी कौडी भी नही। धनवानो से पूछो माया की महिमा ! चमचमाती मोटरो मे सैर करते हैं, मालपुए उडाते हैं। हमे दियासलाई की डिबिया नसीब नहीं, हलवाइयो की भट्टी से कोयला उठा-उठाकर बीडी सुलगाते हैं और उनके घरो मे दियासलाई के बकस-जैसे रेडियो के बकस पडे रहते है। वे बतायंगे तुम्हें, गरीब की बोली मे जिसे माया का फेर कहा गया है वह श्रीमान् के घर मे महालक्ष्मी का प्रकाश है। पौरुष वाला ही लक्ष्मी प्राप्त करता है, दुनिया डरपोको के लिए नहीं है।"

हमदम चुपचाप सुन रहा था चेले का लेक्चर, दिमाग मे उसके भी लछमियाँ के आगे बढने की सडक का नकशा दिखाई देने लगा था।

"बढ चलो, बढ चलो ! यह है युग की पुकार। बढें किधर ? स्वर्ण की ओर, यही तो असली बढना है। स्वर्ण ही तमाम मुश्किलो का एक हल है। जिसके पास स्वर्ण है, उसी की दुनिया है; पुण्य उसी का है, वही ऊँचा है और वही बुद्धिमान भी।"

"लेकिन ब्लैक—"

हमदम को रोक लिया लछमियाँ ने बीच ही मे—"क्या है ब्लैक ? मै कहता हूँ दरिद्रता से बढकर ब्लैक काम और दूसरा नही है कोई। देखते नही धुँए से काले निवास, मैले कपडे, अँधेरी गलियाँ, रोगी काया और गन्दे मनसूबे ? यह है ब्लैक—घोर नरक। मेहनत करेगे, साहस को काम मे लायंगे। ऐसे ही इशारे पर बुलाने से थोड़े मिल जाती है लक्ष्मी !"

"अच्छा उठो भी तो फिर। चलो, पहले अपनी नाडी तो दिखाओ डाक्टर को।"

"ठीक हो गया मै। आप बैठिए मै मोटर ले जाकर इसमें माल भर लाता हूँ।"

"कहाँ से ?"

"कही से भी हो। तुम्हें भाडे से मतलब है न ? डबल भाडा जब मिलता है, तो उसे छोड देना मूर्खों का काम है।"

लछमियाँ बहा ले चला हमदम को। वह मुसकाया और बोला—"तबीयत तो ठीक कर लो।"

"तबीयत ठीक हो गई, जब उस्ताद माल भरने को राजी हो गए। छोडो यह मुसाफिरो का खटराग। क्या रखा है इस झंझट मे ? तमाम गाडी थूक और कै करके अपवित्र कर देते हैं। झूठी धौंस जमाते है मुझ पर।"

"अच्छा, अच्छा कह तो दिया आज भर ले माल।"

"कल भी।"

"कल की कल ही देखी जायगी।"

लछमियाँ साल-भर मे ही मोटर को भली-भाँति समझने लग गया था। हमदम के हाथों मे कभी सिगरेट या कभी कोई और खाने-पीने की चीजें देकर अपने हाथ मे मोटर का चक्का ले लेता था। धीरे-धीरे भावर की सीधी और समतल सडकों पर उसने साहस खोल लिया

और फिर पहाडी ऊँच-नीच और चक्करो मे भी उसके मन की झिझक जाती रही। हमदम ने उसका उत्साह बढाने मे कोई कसर नही रखी थी। फिर तो लछमियाँ गाडी चलाने लगा—चढाव, उतार, मैदान सब जगह; निडर और बिना खटके के। इम्तिहान मे पास था वह, पर सिर्फ सर्टिफिकेट न होने के कारण कोई उसे ड्राइवर कहने को तैयार न था। उसे कोई चिन्ता न थी। जब काम उसे आ गया तो उसे पक्का भरोसा था—लाइसेंस भी मिल ही जायगा।

लछमियाँ मोटर चलाने को उद्यत हुआ। हमदम बोला—"मै भी चलता हूँ। लाइसेंस तो मेरे नाम का है, किसी ने पकड लिया तो ?"

"निकट ही तो है, सब भलेमानस जान-पहचान के है मेरे। फिर उस्ताद और चेले मे फरक ही क्या है ? उस्ताद के नाम पर चेले का भी नाम चलता है। तुम हाथ-मुँह धोओ, कुछ खा-पी लो। मै आ पहुँचूँगा।"

"तू तो यार बीच की सीढी ही गायब कर गया ?"

"नहीं समझा।"

"एकदम क्लीनर की सीढी से मोटर मालिक के दरजे पर कूद गया।"

"उस्ताद की कृपा है सब," कहकर लछमियाँ गाड़ी बढ़ा ले चला।

अब गाडी उसकी मुट्ठी मे थी। वह सोचने लगा—"एक घंटा लगा दूँगा माल की बातचीत करने में और एक घंटा उसके लादने मे। दो घंटे जब यही कट गए, एक-आध घंटा और लपेट ही लूँगा। फिर कहाँ रहेगा तिपनियाँ से आगे बढने का समय ? आज तिपनियाँ मे ही जमेगा लछमियाँ का डेरा।"

लगभग डेढ घंटे मे लछमियाँ ले आया मोटर। आन्तरिक हर्ष से अकड़ रहा था वह। उसका हर्ष दोहरा था। एक शेर की माँद से तो वह माल निकाल लाया था। वही माल मूल कारण भी हुआ कि वह

तिपनियाँ की दूसरी श्रेरनी की माँद मे जाकर पदार्पण करे।

हमदम बोला—"बडी देर लगा दी ?"

"सब वसूल हो जायगा। आज किसी की धौंस नही है। अपने समय के आप मालिक है। तिपनियाँ ही रह जायंगे ? हानि क्या है ? क्या वहाँ रात काटने की मनाही है ?"

"वहीं सही। हमदम का कोई क्या लेगा ?"—उसने उत्तर दिया और उसको पहली याद पडी।

"मैने तो मुँह भी नही धोया। माल के ही चक्कर मे फँस गया।" कहकर लछमियाँ ने मोटर ठिकाने से लगाई और उसमें से उतर पडा।

"क्या माल भर लाए हो ?" हमदम ने मोटर के भीतर देखा।

"उस्ताद, माल के वजन से है मतलब तुम्हे। चौकस काँटे पर रखकर लाया हूँ। वजन के बाद मतलब है भाडे से।"

"काहे की बोरियाँ है ? सीमेंट तो नही है ?"

"सीमेंट के कट्टे होते हैं, इतनी बडी बोरियाँ नहीं।"

हमदम हँसने लगा—"माल किसका है ?"

"ठेकेदार साहब का। हलद्वानी मे ठेका ले रक्खा है न उन्होंने। चूने की बोरियाँ हैं। यहाँ रक्खी थी, ले आयंगे काम मे।"

हमदम ने देखा जाँचकर, बोरियाँ चूने से सफेद थीं तो सही लेकिन मन का संशय बाहर निकालने को वह फिर हँसा।

लछमियाँ जल्दी-जल्दी शौच से निवृत्त हो गया। कुछ खा-पीकर तैयार हो गया। उस्ताद तिपनियाँ के पडाव की मंजूरी दे ही चुके थे। अब तक जितनी देर कर रहा था वह, अब उतनी ही जल्दी मचाने लगा।

मोटर चली। मार्ग में जब लछमियाँ को हमदम के तिपनियाँ मे ही पडाव डाल देने का निश्चय हो गया, तो वह निश्चिन्त हो गया।

लछमियाँ ड्राइवर के बगल की ही सीट मे विराजमान था, बोला—

"उस्ताद, आपके और मेरे बीच मे ये यात्री ही तो अन्तर डाल देते थे। वे नही है, तो लछमियॉ आपके इतने निकट बैठ सका है। गाडी जब इन पहाडो के उतार-चढाव मे चलती है, तो मन मे बडे-बडे विचार उदय और अस्त होते है। हमारे पंडितजी कहते थे कि विचार ही मे असली शक्ति है।"

"मतलब क्या है तुम्हारा ?"

"मेरा मतलब है, तिपनियाँ की धर्मशाला को गोदाम बनावें। आलू का व्यापार करे। कण्ट्रोल अब उस पर है नहीं। चाँदी पीट लेंगे उस्ताद चॉदी।"

"धर्मशाला मे कौन तुम्हे गोदाम बनाने देगा ? गॉव वाले उजर करेंगे।"

"कोई नही करेगा। बडी पुरानी स्कीम है यह। भुमिया के मन्दिर की मरम्मत करा देंगे, गाँव वाले खुश हो जायंगे।"

"हाय रुपया ! हाय पैसा ! क्या हो जायगा उस रुपए से ?

"अपनी तमाम जरूरतें पूरी करेंगे।"

"क्या है वे जरूरतें ? बनाए का बखेडा है दोस्त ! मैने सुना है आदमी के एक पूँछ भी थी, आदमी ने उससे काम लेना छोड दिया और वह गायब हो गई। जितनी जरूरत कम करोगे उतने मजे मे रहोगे।"

"क्या बात करते है उस्ताद ! जितनी जरूरते कम होगी, उतने हम जानवर है और जितनी-जितनी जरूरते बढती जायंगी, उतने-उतने हम सभ्य होते जायंगे।"

"पलंग नही है हमारे पास, मोटर की सीट पर सोते है और किसी से कम मजे मे नहीं सोते। पलंग होता तो कहॉ रखते ? और खटमल ! नाम मत लो ऐसा पलीद जानवर है—खून चूस-चूसकर पीला कर देता। मैं कहता हूँ तकिया भी क्यो चाहिए ? कोट सिरहाने डाल लेता हूँ और उसकी जेब मे बटुआ भी हिफाजत से रहता है। जरूरत नही

रक्खी, मतलब नहीं रक्खा तो पूँछ, घुल गई और बढ़ाओगे तो मियाँ सिर पर दो सींग भी उपज जायंगे। मै कहता हूँ जरूरत बढाना ही जानवर की निशानी है—जानवर भी पालतू नहीं खूँखार-शेर ! बाघ !" हमदम ने कहा।

"तिपनियाँ मे जिस शेरनी की माँद आपने बताई थी वह कौन है उस्ताद !" लछमियाँ ने पूछा।

पहले तो माथा ठनका हमदम का, फिर साधारण तरीके से उसने उत्तर दिया—"पुरानी नाचने वाली है, तुमने नहीं देखा कभी नन्दादेवी के मेले मे उसका नाच ?"

कुछ याद पडी लछमियाँ को—"हाँ देखा है।'

"तो जान-पहचान है तुम्हारी ?" ठहाका मारकर हमदम हँसा।

लछमियाँ की स्मृति जाग उठी, वह मन मे कहने लगा—"एक दिन उसके यहाँ गया तो था मै। वाह ! कितनी होशियार है वह, एक ही दिन की भेंट मे पहचान गई और मैं, लछमियाँ, बडा चतुर अपने को समझने की डीग मारता हूँ—मैं भूल गया उसे। तभी तो मै कह रहा था, हट-हट कर मुसकाने वाली यह कौन है। वाह ! बडा सच्चा प्रेम है इसका ! कौन कहता है रूप के बाट मे बैठी हुई यह हृदय-हीन है। हमदम इस बात के उस्ताद थोडे है, तभी तो शेरनी बताते हैं।"

"क्यो ? किस सोच मे पड गया रे लछमियाँ। तेरी जान-पहचान हैं क्या उससे ? और तभी तू तिपनियाँ की धर्मशाला में अपना हेडक्वार्टर खोलने को बेचैन हो उठा है।"

"शेरनी कहते हैं आप तो उसे।"

"जो जी मे आया, कह दिया हमदम ने। लेकिन वह गाती बडी सुन्दर है और इसीलिए वह शेरनी से भी अधिक भयानक है।"

"गाना तो एक आर्ट है। पंडितजी कहते थे, कलाकार धरती से बहुत ऊँचे पर उडता है।"

"शेरनी की दहाड सुनकर उसके निवाले को भाग जाने का अवसर

मिल जाता है, पर यह अपने गीत के जादू से शिकार को अपने मुख मे ही खीच लेती है। सुना है मैने भी इसका गाना। एक-दो मर्तबा गया हूँ मैं यार-दोस्तो के साथ उसके यहाँ। जाना ही पडा। मगर हमदम आसानी से फिसल जाने वाला आसामी नही है। कह तो दे कोई उसकी मोटर ने कभी कोई ऐक्सीडैट किया है। न कभी किसी गाडी के ठेस लगाई और न प्राणी के नाम पर किसी जानवर की पूँछ भी दबाई।" हमदम ने मूँछो पर ताव देते हुए कहा—"बेटा, ऐसी ही उम्मीद तुमसे रखता हूँ। हमदम की शान को बट्टा न लगे।"

लछमियाँ ने मन मे निश्चय किया—"उस्ताद जब उसका गाना सुनने गये है तो चेला भी जरूर जायगा। रह गई ऐक्सीडैट करने की बात, वह तो सौ फी सदी बचाया ही जायगा। गाडी खड्ड मे चली जाय तो फिर मँगाई जा सकती है, लछमियाँ की जान थोडे कहीं से मोल या मँगनी आ जायगी?"

लछमियाँ ने अलमोडे से चलने का सही गणित लगाया था, उस्ताद के चक्के की करामात थी कि गाडी न आगे न पीछे, ठीक वक्त पर तिपनियाँ पहुँच गई। यह पडाव जान-बूझ कर वहाँ पडा है, किसी की भी ऐसी संशय कर सकने की मजाल नही थी।

"हलवाई की दूकान से ही गाडी लगाओ उस्ताद! नल भी निकट है वहाँ से और यह हलवाई अच्छा आदमी है। तेल से घी कहने का अधिक आदी नही है," लछमियाँ बोला।

"हाँ, क्यो नहीं, मोटर के भीतर पडे-ही-पडे फोकट मे परुली का गाना जो सुनोगे। लेकिन लछमियाँ, सच बात अपने-आप निकल आती है मुख से। दोस्त अगर गाने वाला ही न दिखाई दिया तो गाने का लुत्फ ही क्या रहा। इसलिए मैं ग्रामोफोन और रेडियो दोनो को कण्डम करता हूँ।" गाडी दूकान से लगाकर, उसके भीतर ही गुरु-शिष्य का यह संवाद चल रहा था।

. बहुत दूर तक विरक्ति के साथ खींचते हुए लछमियाँ ने उत्तर दिया—"हाँ ऽऽऽ।"

"लेकिन एक खटका मिटा तुम्हारे दर्द का। अब तो ठीक है न ?"

"बिऽलकुल उस्ताद।"

"क्या रंग हैं फिर, चलो उतरें।"

"नही उस्ताद, जोखिम का माल है साथ मे।"

"जोखिम कैसी ?" चौंककर हमदम ने पूछा—"अबे, तू तो कहता था बोरियाँ चूने की हैं।"

"चूने की तो है ही। मै भूल गया! मेरा मतलब बाहर की जोखिम मे था।"

"बाहर की कौन-सी जोखिम ?"—हमदम का शक थोड़ा-सा कम हुआ।

"यही शेरनी की माँद !" शेरनी ! दाँत भी, पंजे भी ! याद तो करो !"

तू पक्का लोफर हो गया लछमियाँ ! अगर कुछ कपड़े साफ पहनने लग गया तो अच्छे-अच्छे मुसीबत में फँस जायंगे। उतर फिर, खाने को तो खायगा कुछ ?"

"दूकान कितनी दूर है। आवाज ही दे देने से हलवाई पहुँचा जायगा यहीं ?"

सूर्यास्त को कुछ बादलो ने ढक दिया था, और अब वे लाल रग की कई छायाओ मे चमक उठे थे। प्रतिफलित होकर सारा तिपनियाँ उस स्वर्णाभा मे जगमगा उठा था।

दो-चार मोटरें बासा ले रही थीं तिपनियाँ में। अधिक चहल-पहल तो ऐसी ज्ञात होती न थी। हलवाई चूल्हे पर बासी साग को गरम कर रहा था और ग्राहक की अधिक आशा न कर लालटेन की चिमनी में एक मैले झाडन को घुमा रहा था। नल की डिग्गी में पानी पीकर एक गाय लौट रही थी। दूकान के निम्न भाग में दिन-भर की धूप से

मुरझाई हुई कुछ मूलियाँ रक्खी थीं। हरियाली ने पशु को आकृष्ट कर लिया और उसने उधर मुँह मार एक मूली की चोटी ले ली अपने मुख मे।

खडबड सुनकर हलवाई चौंका—"हऽऽट्!" कहकर उसने चिमटा मारा भूमि पर।

हलवाई की विकट ध्वनि सुनकर दोनों निकल आए मोटर के भीतर से और उसकी बेंच पर बैठ गए। पाव-पाव-भर पूरी सामने रखकर दोनों ने उडाईं। खा-पीकर हमदम ने पूछा—"गाँव जाओगे?"

"नही!"

"धर्मशाला मे दम लगाने या रनफलास खेलने भी नहीं?"

"नहीं उस्ताद!"

"अच्छा मैं हो आता हूँ बाबाजी के धोरे। अच्छी ज्ञान की बात कहते हैं दुनियादारी और दूकानदारी से हटकर जरा।"

"रात चाँदनी है, कोई खटका नही उस्ताद।"

हमदम के जाने पर लछमियाँ ने इधर-उधर ताक-झाँक की और फिर हलवाई से उस नए किराएदार की बाबत जाँच की, उसका नकशा और प्रोग्राम, उसके आर्ट और योग्यता की बारे मे सुना और समझा।

"दिया जलते ही पतंगों के झुण्ड परुली को घेर लेंगे! फिर वह कहाँ बात करने लगी लछमियाँ से? उस्ताद कहते है रुपया कोई चीज ही नहीं!" सोचते हुए लछमियाँ चट से उठा उसने सड़क से नीचे देखा, उस्ताद उतरते जा रहे थे धर्मशाला की सीध मे।

लछमियाँ साहस की पेटी तेल-सने पतलून में एक धर और ऊपर सरकाकर प्रविष्ट हो गया परुली के रंग-भवन मे। पहला कमरा उसी का था, दूसरे कमरे मे एक-दो आदमी बातें कर रहे थे कदाचित् उसके उस्ताद और तबलची हो।

परुली अकेली बैठी-बैठी सिगरेट पी रही थी। लछमियाँ को देखते ही पहाड़ी में बोल उठी—"मैं तो कल ही तुम्हें पहचान गई थी, पर

तुम क्यों आने लगे ? लेकिन लछुम वेश्या भी प्रीति करती है।" उस गायिका ने मन्द्र स्वरों में यह रहस्य खोला।

लेकिन लछमियाँ ताव खा गया—"कौन कहता है तुमसे वेश्या ? कामी और लंपट पुरुषों ने ही तुम्हें यह नाम दिया है। मैं कला-प्रेमी हूँ, मेरे कोष में तुम्हारा नाम है—नृत्य-बाला—अप्सरा !"

परुली का गाँव भी उसी घाटी में था जहाँ लछमियाँ का। इस दैशिक घनिष्टता को बढ़ाकर परुली लछमियाँ के द्वारा हल्द्वानी से जुड़ जाना चाहती थी। परन्तु लछमियाँ ने जो सम्बोधन उसे दिया, वह अनायास ही उसके हृदय में एक स्थान बना गया।

लछमियाँ बोला—"मेरे योग्य सेवा ?"

परुली ने मुस्काकर कहा—"गाना सुनिए।"

नौकर गैस जलाकर ले आया। उस्ताद ने सारंगी के कान ऐंठे, तबलची ने तबलों पर हथौड़ा ठोका। गाना आरम्भ हुआ। चार दोस्त आकर इकट्ठे होने लगे।

लछमियाँ एक बार बीच में जाकर मोटर के परदे गिरा उसे अच्छी तरह बन्द करके फिर परुली के यहाँ चला गया।

हमदम शीघ्र ही लौट आया था। मोटर में लछमियाँ को न पाकर हलवाई से पूछा। हलवाई ने ऊपर कोठे की ओर इशारा कर दिया।

हमदम ऊपर चढ़ गया और उसने भरी महफिल में पुकारा—"लछमियाँ !"

दस

पंडितजी ने अपने खाने-भर के लिए, अन्त में अपने शुद्ध परिश्रम से खेती आरम्भ कर ही दी। अर्थात् इस बार जो उनकी अपनी व्यक्तिगत धान की खेती हरी हो रही है उसमें उनके हाली ने हल नहीं चलाया है। उसे पंडितजी ने अपने हाथों से कुदाल से खोदा है। इसमे कोई संशय नही उन्हें बहुत बड़ा शारीरिक परिश्रम करना पड़ा है, उसका बहुत बड़ा मूल्य आँका उन्होंने।

चाचाजी ने एक दिन फिर उनसे कहा—"बेटा, यह जो शुद्ध श्रम की संज्ञा तुमने उपजाई है, वह केवल एक कल्पना है तुम्हारी। श्रम की शुद्धि है सत्य और अहिसा।"

"हल का परित्याग करने से मैंने दोनों की रक्षा की है। आपने पढ़ा होगा राजकुमार सिद्धार्थ ने हल के प्रयोग को एक हिंसक व्यवहार बताया था।

"सबसे शुद्ध श्रम भगवान की आराधना का श्रम है।"

"खेत खोदते समय भी तो हम मानसिक तल मे उनकी सन्निधि प्राप्त कर सकते हैं।"

"असम्भव है।"

"आपके शास्त्र ने भी तो हल चलाना अपवित्र माना है।"

"हाँ माना तो है। इसलिए तो हाली का जन्म हुआ और वह अछूत हो गया।"

"जो बात हमारे लिए अपवित्र है, वह अपवित्रता दूसरे के सिर पर लाद देना घोर अपवित्रता है। हाली का उपजाया हुआ अन्न खाने का हमें कोई अधिकार नहीं है, वह भी अपवित्र है।"

"वह अपवित्र नहीं है। शास्त्र में कहाँ लिखा है।"

"लिखा है चाचाजी!" बड़ी विनय के साथ पंडितजी ने चाचाजी का विरोध किया—"कई जगह जो नाग-पंचमी को व्रत किया जाता है, उसमें आप जानते ही हैं, हल से उत्पन्न अन्न निषिद्ध समझा जाता है।"

"एक दिन की बात से क्या होता है। तीन सौ चौंसठ दिन तो हल से उत्पन्न अन्न पर ही जीवन धारण करना होता है।"

"एक दिन से भी होता है चाचाजी! वर्ष के एक दिन में भी वह सुरक्षित सत्य, हमें उस पवित्रता को विस्मृत नहीं होने देता। भारत में अँगरेजों की एक छावनी में एक फाटक था, अब भी होगा।"

"उससे क्या सम्बन्ध?"

"मेरा मतलब है वह फाटक भी वर्ष-भर में एक दिन बन्द कर दिया जाता था, जनता के लिए।"

"क्यों?"

"अपने कूट राजनीतिक स्वत्व-प्रदर्शन के लिए। वर्ष के केवल एक दिन के ही प्रयोग से प्रजा की मानसिकता में से उसका अधिकार छीन लिया जाता है। वह एक दिन का व्रत इसी प्रकार हमें आज भी हल की अपवित्रता की साक्षी देता है। जो एक युग है, वही एक वर्ष और वही एक दिन वही एक घंटा-मिनट भी नहीं है चाचाजी?"

चाचाजी कुछ सोचने लगे।

पंडितजी फिर बोले—"अपनी आवश्यकता अपना श्रम—यही श्रम की शुद्धि का सूत्र है चाचाजी! संसार में यदि यह व्यवहृत नहीं तो

क्या हुआ ? मैं इसका प्रयोग करूँगा। एक सिरा सँभाल लिया है। इस खेती को लवाने के पश्चात् दूसरा सिरा भी सँभाल लूँगा।"

चाचाजी हँसकर बोले—"तुम्हारी इस श्रम की शुद्धि वाले समाज में छोटे-छोटे बालक, दुर्बल वृद्ध और रोगाक्रांत व्यक्तियों के लिए कौन स्थान होगा ?"

"वे अपवाद होकर रहेंगे।"

"अतिथि ?"

"अतिथि को अपना सम्बल बाँधकर चलना होगा।"

"जिस अतिथि की शास्त्र मे इतनी महिमा है, तुम उसका अस्तित्व ही उडा देते हो ?"

"जब जगत में शुद्ध श्रमिकता फैल जायगी तो फिर कोई भी अतिथि या याचक होकर कलंकित होना न चाहेगा।"

"तुम एक कोरे स्वप्न के जगत को देख रहे हो।"

"चाचाजी, मैं प्रचारक के पेशे को उच्चता नहीं देता। मैं अपने विचार की ओर किसी को भी खींचने का पक्षपाती नहीं हूँ।"

"चाचाजी सोचने लगे—"इसके मस्तिष्क मे कोई विकृति उपज गई है।" पर वह विकृति निर्दोष थी और चाचाजी उस पर कोई प्रतिबन्ध लगा भी नहीं सकते थे। पंडितजी बालक तो थे नहीं, पढ़े-लिखे, साहित्य और कला मे गति रखते थे। उन्होन प्रकट में कहा—'बेटा, तुम यह किधर बढ़ रहे हो समझ मे नहीं आता। शास्त्र की ओर कहूँ तो कैसे ?"

"शास्त्र की ओर क्यो नहीं ?"

"छूत-छात नहीं मानते।"

"हल की तो मानने लगा हूँ।" हँसे पंडित जी।

"विज्ञान की ओर भी तुम नहीं बढ़ रहे हो, क्योंकि तुमने अपनी आवश्यकताएं बिलकुल कम कर दी हैं। मशीन की शक्ति को तुम दानवीय कहते हो।"

"त्याग ही जीवन है चाचाजी! महल से घर अच्छा है, घर से झोंपडी और झोपडी से पेड के तले और पेड के तले से नक्षत्र-खचित नीला आकाश—वह साक्षात् ब्रह्म का आश्रय है।"

"कौन रहता है वहाँ?"

"जिसके विश्वास है और जिसने अभ्यास किया है। भोटिये और हुँणिये आकर जाडो में आपको प्रतिवर्ष साक्षी नही दे जाते क्या?"

और जब पंडितजी का शुद्ध श्रम धानो के खेत में कुछ और ऊँचा हो गया, वह उनको देख-देखकर सन्तोष कर रहे थे। एक दिन खेतों पर उन्हे उनका वह हाली मिला, जिसके हल की उपेक्षा करके पंडितजी ने अपनी कुदाल चला दी थी।

"सेवा मानिए महाराज!" वह पुरानी चाल का रूढिभक्त पुजारी बोल उठा।

पडितजी ने हाली के कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्रेम से कहा—"सेवा कैसी? मनुष्य सब समान हैं। उसे अपने ही शुद्ध श्रम पर जीना है। यही उसकी निर्लेप स्वतन्त्रता है। यही भारत की ऊँच-नीच मिटाने का नुसखा है और इसी पर विश्व-शान्ति का स्वप्न प्रत्यक्ष हो सकता है। गुलामी से ऊपर उठो हाली, हम सब समान हैं। कोई किसी का मालिक नहीं और न कोई किसी का सेवक!"

"ऐसा क्यों कहते हो मालिक!"

"फिर वही बात! हम सब भाई-भाई हैं।"

"क्या अपराध हो गया मुझसे, जो इतनी घृणा हो गई आपको।"

"तुमसे कोई घृणा नहीं है मुझे।"

फिर हल नहीं चलवाया मुझसे। मैं कैसे अपने बच्चों का भरण-पोषण करूँगा?"

"हल नही चलवाया, हल में अवश्य मुझे भय दिखाई देता है।"

"भय कैसा?"

"वर्ग-भेद उसी ने उपजाया है। उसी से सिक्के की कल्पना भी हुई

है। फिर क्या हुआ ? सिक्के के साथ ही सारे कलुष उद्भूत हो गए। नहीं तो हाली, मनुष्य को जीवन धारण करने के लिए क्या चाहिए, दो मुट्ठी अन्न। आवश्यकताओं की वृद्धि ने हमें आलसी और रोगी बना दिया। मानवता के बीच में भयानक दीवारें चिन दीं और भगवान् पर लौह-आवरण डालकर हमें नास्तिक और असहाय कर दिया।"

"हल ने ही यह किया, बड़ी अद्भुत बात है।"

"हाँ यह समय की बचत करता है। और जो समय की बचत करता है, वह प्रकृति को धोखा देता है। पर एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है, प्रकृति को कोई ठग नहीं सकता। वह अपना विकट बदला ब्याज-सहित उघा लेती है। इसलिए तुम भी शुद्ध श्रम करो हाली ! प्रकृति दयामयी जननी है, उसकी शुद्ध श्रम करने वाली संतान भूखी रह ही नहीं सकती। भगवान् का विश्वास उपजाओ तो सही हाली, मनुष्य की कृपा झूठी और थोथी वस्तु है।"

हाली की समझ में नहीं आया पंडितजी का प्रवचन। वह उसे उनकी कोई चतुराई समझने लगा। बोला—"महाराज आप मेरी छूत मानते रहते, मुझे इतना कष्ट नहीं होता। मेरी जीविका का साधन, यह हल जो आपकी दृष्टि में अछूत हो गया, यह न्याय नहीं कर रहे हैं आप। उसकी अपवित्रता कहाँ पर है ? केवल लोहा और लकड़ी— इन दोनों में से कौन अशुद्ध है ?"

पंडितजी की दार्शनिकता और अर्थशास्त्र घुस नहीं सकते थे उस निरक्षर हाली के मस्तिष्क में। उन्हें बड़ी पीड़ा होने लगी।

हाली कहने लगा—"अच्छा आपके खेत हल से नहीं, कुदाल से ही खोद दिया करूँगा अगली फसल से ?"

"नहीं मित्र, मैं किसी अन्य का परिश्रम नहीं मिलाना चाहता अपने अन्न में।"

"आप चाचाजी से बटवारा कर चुके क्या ?"

"नहीं।"

"फिर उनके खेतों मे तो हल चलता ही है।"

"इससे क्या हुआ ? मैं अपना अन्न अपनी कुदाल से उपजाता हूँ यह मेरी व्यक्तिगत बात है।"

"फिर आपका यह अन्न भी तो जाकर एक ही पतीली मे मिल जायगा।"

"नहीं मिलेगा !"

"झूठी बात !"

"बिलकुल सच। मै इधर अन्न उपजाने के लिए तुम्हारा सहयोग छोडता हूँ तो उसे पकाकर खाने के लिए भी मुझे मेरा ही श्रम अभीष्ट होगा।"

"तब बटवारा हो गया आपके बीच। तरकीब बढ़िया सोची आपने। लेकिन एक बात मै फिर कहूँगा, आपके विचारों मे धोखा है। आपसे तो आपके चाचाजी अपनी पुरानी घिसी-घिसाई चाल मे ठीक हैं। वह हाली की छूत मानते हैं, हल की नहीं। आपने हाली को शुद्ध किया, पर मार दिया उसे भूखा !"

"हाली तुम मेरा मतलब नहीं समझ सकते। मैं चार वर्णों का एक ही में सम्मिश्रण कर देना चाहता हूँ। यह वर्ण-विभाग बदनाम तो केवल भारतवर्ष को करता है, परन्तु घर है इसका सारी सभ्य धरती पर—हाँ नाम अलग हैं। विधायक मन्त्री, ब्राह्मणों का दल है। रक्षा और शान्ति के नाम से क्षत्रियत्व चलता है, उत्पादन और व्यापार वैश्यता है ही और शूद्रत्व दलित और शोषितों के संघर्ष का नाम है। श्रम के इस विषम-विभाजन ने समाज को गँदला किया। 'अपना श्रम, अपनी आवश्यकता।'—यह ध्वनि सुरीली नही सुन पडती क्या ? सब अपना अन्न-कपडा उपजायंगे, कोई जमा नहीं करेगा, न व्यापार होगा, न सिक्कों का व्यवहार होगा, न किसी के लालच होगा न आतताईपन पनपेगा, न कोई मालिक रहेगा न कोई सेवक। सभी भोक्ता होंगे और सभी मजूर।"

हाली घबरा उठा पंडितजी की बातो से और मन में यह सोचता हुआ चला गया—'बहुत अधिक किताबें पढ़ने से भी आदमी का दिमाग खराब हो जाता है।'

त्याग के मार्ग में बराबर बढ़ता हुआ वह यात्री, चाची की विशेष दया का पात्र बन गया। आरम्भ में चाची ने अवश्य ही पंडितजी को एक भय और बाधा के रूप मे देखा था, परन्तु ज्यों-ज्यो दिन बीतते गए त्यों-त्यों उन्होंने अपने विचारो को संशोधित कर लिया।

चाचाजी, पंडितजी के केवल छूत-अछूत के विचारो पर सहमत नहीं थे, पर जब से वह हल की छूत मानने लगे तो उन्हे विश्वास हो गया—जब हल को छूत उनके मन मे बस गई तो हाली से उनका सम्बन्ध छूट ही गया। पंडितजी का दर्शन-शास्त्र जो चारो वर्णों का विभाजित व्यक्तित्व एक ही अभिन्नता में समन्वित कर लेने का था, चाचाजी को मान्य था -केवल सिद्धान्ततः। वसुन्धरा बहुत आगे बढ़ गई थी और उसे पीछे कर लेना केवल ईश्वरीय शक्ति का ही काम था।

पंडितजी ने सिगरेट छोड दी, कुछ दिन तक चूना मलकर सुरती खाई। फिर उसका भी त्याग कर दिया। कोई बिगाड इससे उनकी शारीरिकता में नहीं प्रकटा। इसके पश्चात् चाय की बारी आई। और एक दिन दूध के सहारे उन्होने चाय का भी त्याग कर दिया!

इसके पश्चात् बारी आई नमक और चीनी की। उन दिनों उन दोनों का भयंकर अभाव था। गाँव वालो को उन दोनों की पाप्ति में धन के साथ विकट प्रतीक्षा और श्रम भी करने पडते थे। पडितजी को यह रस की दासता भौतिक गुलामी से अत्यन्त भयानक जान पडी। उन्होंने पहले चीनी का त्याग कर दिया और फिर नमक भी छोड दिया।

चीनी के लिए तो नहीं, नमक के लिए चाचाजी ने घोर प्रतिवाद किया—"शुद्ध दूध का स्वाद चीनो से विकृत हो जाता है, पर नमक यह भोजन को पचाने के लिए बहुत आवश्यक अंश है। पशुओ तक को यह दिया जाता है।"

"नहीं चाचाजी," पंडितजी बोले—"यह शरीर को गला देता है और उसकी स्वाभाविक पाचन-शक्ति को दुर्बल कर देता है। मैंने दादीजी से बचपन में सुना था, इस पहाड मे पहले नमक का इतना प्रयोग नहीं होता था। समुद्री नमक तो रेल ने फैलाया है यहाँ, पहाडी नमक आता था यहाँ तिब्बत से। वह एक निधि की भाँति घरों मे रक्खा रहता था। विशेष अवसरो पर विशिष्ट व्यक्ति ही उसका उपयोग करते थे। वह स्त्रियों और नौकर-चाकरो तक नहीं पहुँचता था। तब चाचाजी, तब क्या पाचन-शक्ति दुर्बल थी हमारी? रह गई पशुओं को खिलाने की बात। यह केवल मनुष्य की एक बहक है। मैंने एक किसान को बैलों को भाँग खिलाते ए भी देखा है, वह कहता था, भाँग के नशे में बडा बढिया काम करता है पशु!"

चाचाजी हँसने लगे।

"मानता हूँ मैं, पुराने अभ्यास की जड उखाडने तक अवश्य कुछ शारीरिक कष्ट होगा मुझे। फिर जब मैं इस विष-प्रभाव से मुक्त हो जाऊँगा तो तब देखिएगा चाचाजी। लेकिन मैं नमक और चीनी को शरीर से अधिक मन का शत्रु समझता हूँ। मन को अतिशय चपल बनाने मे इन रसो का मुख्य हाथ है।"

त्याग-पर-त्याग बढ चले पंडितजी के। ग्रामों मे जूतो का उपयोग बहुत कम होता है। जब होता भी है, तो कदाचित् पैरों की रक्षा के लिए इतना नही होता, जितना उसकी शोभा बढाने को होता है। ग्रामवाली जब नगर की ओर अपने पेर बढाता है, तब जूता ढूँढता है। पंडितजी नगर से ग्राम को चले, जूता स्वतः ही उतर गया उनके पैर से। सिर की टोपी भी त्यक्त कर दी उन्होंने। छाता और लाठी भी।

वस्त्रो मे भी कमी हुई। कुछ वस्त्राभाव कारण हुआ और कुछ त्याग की वृत्ति ने सहायता की। कोट-पतलून कभी की छोड चुके थे वह। धोती लम्बाई और चौडाई दोनों मे काटकर आधी कर दी

उन्होने। घुटनों से ऊपर तक चली गई वह, उसके ऊपर एक खद्दर का कुरता और एक ऊनी बनियान पहनने लगे। ऊनी बनियान केवल जाडे का साथी था उनका। इस बार जाडे मे वह उसका भी बहिष्कार कर लेने पर निश्चय मति हो रहे थे।

एक बोरे मे पुआल भरा उनके बिछाने का गद्दा था। भूमि पर शयन करते। ऊन की एक-दो पंखियाँ ओढ़ते। धीरे-धीरे बर्त्तनों का उपयोग भी छोड़ दिया। पत्ते बिछाकर भोजन करते और ओख से प्यास बुझाते।

सिक्को का उपयोग क्या स्पर्श भी नहीं करते थे वह। संपत्ति के नाम पर केवल त्याग ही था उनके पास। पुरुखाओं के घर मे कोई कमरा न था उनका, न कोई संदूक ही था। ताली-चाबी को वह हेय दृष्टि से देखते थे। कुरते मे जेबें कटवा चुके थे, और न धोती के सिरे मे ही कोई गाँठ बाँधते थे।

गाँव में आकर ग्रहण के नाम पर एक संग्रह अवश्य किया था उन्होने। वह था यज्ञ-सूत्र। नागरिक जीवन मे जिसे उन्होने एक बंधन समझा था, जिसे तोडकर फेंक दिया, था उसे ग्राम मे आकर फिर पहन लिया था, चाचाजी के डर से संध्या का अभिनय करने को। धीरे-धीरे वह अभिनय नियमित हो जाने से उनकी प्रकृति मे गहरा धँस गया और वह उसे जीवन के युद्ध की स्फूर्ति समझने लगे।

नगर से सेफ्टी, साबुन, तेल, दर्पण, कैंची ले आए थे, पर कुछ दिन बाद वह सब फेंक दिए। दाढी और सिर के केश भी बढ चले—इसे ग्रहण कहें या त्याग?

"बेटा, क्या शकल बना ली है तुमने? कैसा रहन-सहन बना लिया? किधर जा रहे हो तुम, कुछ समझ नहीं पडता।"

"मैं बढ़ रहा हूँ चाचाजी!"

"किधर बढ़ रहे हो?"

"ऋषियों की ओर चाचाजी! क्या वह मार्ग निषिद्ध है। ऋषि

देखे नही है मैने, पर पुराणों में जो उनका वर्णन पढा है, वह ऐसा ही जटा-जूटधारी नहीं है क्या ? फिर आप क्यो मेरे इस केश-जाल मे भयानकता देखने लगे ?"

गाँव के डाकिए ने आकर उनको उनके प्रान्तीय साप्ताहिक पत्र का अंक दिया। उन्होंने उसे पंडितजी को देते हुए कहा—"लो पढो।"

"नहीं चाचाजी, मै पढ़ना-लिखना आरम्भ नहीं करूँगा अब।"

"यह समाचार-पत्र है।"

"होगा।"

"यह घर बैठे मनुष्य को देश-विदेश से सम्बद्ध करता है, उसके ज्ञान को बढाता है।"

"मै नही मानता यह बात। मैं तो इसे घर-घर कलह फैलाने का साधन समझता हूँ। रेल और समाचार-पत्र, ये पश्चिमी सभ्यता के दो विष-वृक्ष हैं। इनको हमारी एकता का सहायक माना गया है। पर गहराई पर जाइए तो इन्होने हमे छिन्न-भिन्न ही किया है।" पंडितजी ने समाचार-पत्र का स्पर्श भी नहीं किया—"पढने के लिए भगवान् की प्रकृति से बढकर और कौन-सा पृष्ठ है चाचाजी! संध्या, प्रभात और मध्याह्न के फेरो मे नाचते हुए ये ऋतुओं के परिवर्तन! निशीथ और अर्धनिशीथ के आकाश मे ग्रह-नक्षत्रो का उदयास्त, जन्म-जन्मांतरो की अनेक ब्रह्मांडों की कथाएं आवर्तित हैं इनमें। फिर एक झूठे भ्रम मे क्यों पड़ूँ मैं ?"

"गीता भी नहीं पढते क्या आजकल ?"

"वह जीवन मे व्याप्त है, बिना पढे भी वह हमारे स्वभाव में प्रकट हो जाती है और पढने पर भी यदि हम उसमें आरूढ न हो सके तो उस तोतापन्थी से लाभ ? परन्तु वह तो अब मुझे पूरी याद हो गई।"

"कला और साहित्य ?"

"वह भी केवल एक व्यसन है। जीवन की जटिलता है। उनका आदर्शवाद छाया-भ्रमण है। रह गई प्राकृतिकता, वह प्रकृति का अनु-

सरण है, तो शुद्ध प्रकृति की उपासना क्यों न करूँ मैं। असल को छोड़कर क्यों प्रतिबिम्ब का अनुसरण करूँ ? फिर वह मेरे शुद्ध श्रम की कसौटी पर भी नहीं उतरती।"

"समझ नहीं पड़ता यह तुम्हारा 'शुद्ध श्रम'। एक नया शब्द गढ़कर चलाने का न जाने कैसा मोह हो गया तुम्हें ?"

"इस शब्द का मुझे कोई अभिमान नहीं है। आप इसे कर्म भी कह सकते हैं। अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए स्वयं जो कर्म किया जाय उसी को मैं शुद्ध कर्म कहता हूँ। सभी यदि अपना-अपना काम स्वयं करने लगें, तो मालिक और मजूर का प्रश्न सहज ही हल हो जाय। पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों का एकीकरण हो जाय।"

"मैं तो भगवान् के लिए, बिना किसी फल की आकांक्षा के लिए जो कर्म किया जाय, उसे शुद्ध कर्म मानता हूँ।"

"मनुष्य उस विराट् की ही तो एक चिनगारी है। फलाकांक्षा ! यह गीता का परम प्रसिद्ध शब्द—इसी का नाम इस युग मे वेतन, मजूरी या भाड़ा है। जब हम अपना काम स्वयं ही करने लगे तो फिर इनमें से किसी का भी अस्तित्व रह नहीं जाता। मैं अपने लिए, आत्म-पर की भावना चली गई, फिर कौन देने वाला और कौन पाने वाला ?" कहाँ रही मजूरी, कहाँ रही फलाकांक्षा ?"

चाचीजी ने भीतर से पुकारा पंडितजी को। वह तुरन्त ही चले गए।

चाचीजी ने दूध का गिलास उनकी ओर बढ़ाकर कहा—"लो दूध पी लो।"

पंडितजी दूर ही रुक गए—"परन्तु चाचीजी !"

"मैं भी चाहती हूँ चाय छोड़ दूँ।"

"चाचाजी, और मैं सोच रहा हूँ अब दूध भी छोड़ दूँ।"

"क्यों ? क्यो ? यह क्या तुम्हारे श्रम की उपज नहीं है ? गाय चुगा लाते हो तुम, उसके लिए घास भी काट लाते हो, दूध भी तुम्हीं

दुहते हो। कुछ खाओगे-पियोगे नहीं तो परिश्रम कैसे कर सकोगे खेतो पर ?"

"चाचाजी, इस दूध पर, बछिया का स्वाभाविक अधिकार है। मनुष्य का उसे छीनकर पी जाना उस मूक और निर्दोष पशु का शोषण है, अत्याचार है। मनुष्य के जीवन के लिए सबसे बडी आवश्यकता वायु की है। उसी को प्राण की संज्ञा दी गई है। सारे पोषक पदार्थ सूक्ष्म होकर वायु मे मिले हुए है। हम विचार के बल से उन्हे अपने शरीर मे खींच सकते हैं।"

"दूध का तिरस्कार नहीं किया जाता। लो पी लो। तुम आज अपनी शुद्ध खेती लवाने जा रहे हो, बडी प्रसन्नता है तुम्हें। ऐसे अवसर पर तुम्हें क्या चाची को अप्रसन्न कर देना चाहिए ?"

पंडितजी ने मान लिया उनका कहना। एक दोना बनाकर ले आए और दूध पीने लगे—"कल से नहीं पिऊँगा।"

चाची हँस पडीं—"धातु का स्पर्श छोड दिया तुमने ? तुम तो सिद्ध-महात्मा होने जा रहे हो। पर तुम्हारा हँसिया भी तो धातु का ही है।"

"उसमे लकडी की बेंट इसलिए लगाई है।" पंडितजी ने दूध पीते हुए उत्तर दिया।

"सुनती हूँ, अपने हाथ से उगाया हुआ अन्न तुम स्वयं ही बनाकर खाओगे ?"

"हाँ !"

"चाची के हाथ का नहीं खाओगे ? उसे अछूत बनाकर परित्यक्त कर दोगे।"

"नही, नहीं चाचीजी। यह अर्थ कदापि नहीं है मेरा।"

"देखने वाले तो यही कहेगे।"

"कहने दो। मेरा एक लक्ष्य है चाचीजी, मैं उधर बढ़ता जा रहा हूँ।"

"हमसे दूर होते जा रहे हो। बूढे माता-पिता से विभक्त होकर आ गए तुम। हमारे पास पितरो की भूमि मे तुम्हारे आ जाने से उनके लिए आश्वासन रह गया। हमारे निकट इस प्रकार उच्छिन्न रहकर तुम्हारा रहना हमारे लिए बडा कष्टप्रद हो जायगा बेटा! मै तुम्हारे श्रम का उपजाया हुआ अन्न तुम्हारे लिए अलग बना दिया करूँगी।"

"नहीं चाचीजी। मै तो इसके बाद अग्नि का भी त्याग करने की सोच रहा हूँ।"

"कच्चा ही खाओगे?"

"हाँ, कुछ दिन मे अभ्यास हो जाने पर वही स्वादिष्ट और सुपच हो जायगा।" कहकर पंडितजी दूध पीकर उठने लगे।

"तुम किधर बढ रहे हो बेटा?"

"आवश्यकता के जाल से छूटकर, त्याग के मार्ग मे। दूर-दूर, बहुत दूर चाचीजी! अनेकता से छूटकर विचार की एकता की साध में।" पंडितजी आँगन मे चले गए।

चाची ने देखा, हँसिया लेकर वह अपनी पहली खेती लवाने की उमंग मे खेती की ओर बढ गए।

कोई नही समझा सका पंडितजी को। वह तिल-भर भी विरत नहीं हो सके अपनी कल्पना के मार्ग से। अन्न की उपज और उसके पाक के दोनो सिरे उन्होने अपनी मुट्ठी मे दबा लिये। अपने श्रम से वह अपने मे ही प्रतिष्ठित हो गए। दर्शकों ने चाहे इस व्यक्ति को सिडी, प्रमादी और बहका हुआ कह दिया हो, परन्तु पंडितजी अपने विचारो के आनन्द मे थे। उनका उज्ज्वल मुखमंडल इसकी साक्षी था। इस धीरे-धीरे परिवर्तित जीवन का उनके स्वास्थ्य मे कोई भी बुरा प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

अपने उपजाए अन्न की दूसरी खेती भी उन्होंने लवा ली। अब तो चाचाजी का रसोईघर बिलकुल ही छूट गया उनसे। नीचे एक गोठ मे वह अपना भोजन बना लेते थे। रोटी-भात और उबाला हुआ नमक-

मसाले-घी से विहीन अपना ही उपजाया हुआ कोई साग।

इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। अब अग्नि के त्याग के लिये वह सन्नद्ध हो गए। पहले एक बार के भोजन मे अग्नि का सहाय्य छोडा उन्होने, और फिर दोनो बार।

अब तो वह बिलकुल खेतो के ही हो गए। घर के साथ सम्बन्ध केवल शयन का ही लगा रहा। पंडितजी सोचते थे—"निद्रा का त्याग भी हो सकता होता तो? जीभ का स्वाद जीत लिया जा सकता है, पर पेट की भूख नहीं जीती जा सकती। ऐसे ही नेत्रो का रसोन्माद वश मे हो सकता है, पर नींद के आक्रमण पराजित नहीं किये जा सकते।" परन्तु पंडितजी के मानस की अनन्त गहराई मे कोई पुकारने लगा—"ये सब मन के विकार हैं और ये सब जीत लिए जा सकते है।"

एक वर्ष कच्चा अन्न पचाते हुए भी बीत गया पंडितजी को, क्योंकि उनके मन में अग्नि-त्याग का कोई संशय या भय नहीं था, प्रत्युत एक अटल विश्वास था, जो शीघ्र ही उनकी काया मे प्रस्फुटित हो गया।

वह कहते—"मनुष्य ने स्वाद के हाथों अपना स्वास्थ्य बेच दिया है। उसने अन्न के पौष्टिक तत्वो को भूनकर जला डाला और दूध, घी, अण्डे और मांस में शारीरिक बल ढूँढ़ने लगा। उसको शैशवावस्था का सहायक दूध हो सकता है। उसके पश्चात् वह भी उसका स्वाभाविक भोजन नहीं है।"

कौन कह सकता था, यह चाय का शत्रु एक दिन दूध के विरुद्ध भी इस प्रकार हो जायगा।

पंडितजी प्रातःकाल चार बजे उठ जाते। शौच-स्नान के अनन्तर एक घंटे ठाकुर-गृह मे बैठकर संध्या-पूजा करते; फिर दो-चार मुट्ठी चावल, दाल, गेहूँ या तिल चबाकर एक गिलास ठंडा पानी पीते और खेतो की ओर चल देते। जाडा हो या गरमी, उन्हें कोई डरा नहीं सकता था। प्रकृति डरावनी है ही नहीं, यह तो मनुष्य अपनी ही दुर्बलता से घर

के भीतर छिप गया और वर्षा, तुषार, हिम और अन्धकार मे मैत्री बढा ही न सका।

पंडितजी को एक पंखी कातनी ही पडी, अपने को जाडे मे बचाने को कदाचित् इतनी नही, जितना लोगो की ताडना ढक देने को।

एक कुरता, धोती और पंखी को लेकर पंडितजी पोष-माघ के तुषार पर अपना नंगा पैर रख देते और खेतो पर कुछ काम न होने पर भी वह प्रकृति-दर्शन के लिए दूर विजन मे चले जाते। तुषार ने उनके पैरो के चमडे को मोटा कर दिया और वह फटकर चीड के वल्कल की भाँति हो गया, उसकी चेतन-शक्ति भी जाती रही। पंडितजी कहते—"प्रकृति का यह वरदान है। उसने मेरे पैर को ही जूता बना दिया है। कांटा इसके नीचे अपनी नोक गँवा देता है और हिम अपना दंशन! प्रकृति को सब-कुछ सौंप देने ही से वह इस प्रकार अपनी दया दिखाती है।"

भोजन मे अग्नि का सहयोग छोड देने के पश्चात् जाडे की ऋतु आई। गाँव मे आग के चारो ओर लोगो का मंडल घिरने का प्रस्तुत हुआ। एक ग्रामवासी ने पंडितजी से पूछा—"अग्नि तो सबको पवित्र करती है, तुम क्यो उसकी छूत मानने लगे?"

"छूत नही मानता। आवश्यकताएं कम करने के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। त्याग का अर्थ घृणा नही है सर्वदा।"

"तो इधर आओ, आग के निकट बैठो। बडी ठंडी हवा बह रही है। हाथ सेक लो।"

"नही। अग्नि को नमस्कार किया है।"

"हाथ सेक लेने से कौन धर्म बिगड जायगा?" नमस्कार भी होता रहेगा। अग्नि का बना भोजन छोड़ रक्खा है, आग सेंकना दूसरी बात हुई।"

"अन्न भी शरीर-रक्षा के लिए ही है और अग्नि-सेवन भी उसी के लिए।"

"यह भी एक अनावश्यक आवश्यकता है। आग जितना सेंको उतना ही जाडा लगता है। आग आलस्य को बढाकर अंग को शिथिल कर देती है।"

"धूप तो सेंकते ही हो।"

"वह दूसरी बात हुई। सूर्य और अग्नि ये दो भिन्न-भिन्न देवता है।"

और उस पहाड़ की शीत ऋतु मे पंडितजी अग्नि-परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। वह जाडे-भर अग्नि से दूर ही रहे।

गेहूँ की खेती लवाते-लवाते एक दिन पंडितजी ने सोचा—"प्राणी जब तक माता की गोद मे रहता है उसके भोजन का प्रबन्ध स्वयं ही हो जाता है। केवल दूध पीने ही का परिश्रम उसे करना पडता है। इसके पश्चात् जब वह माता की गोद छोडकर धरती माता के अंक मे आता है, तब ?—तब—" पंडितजी ने कुछ क्षण विचार किया—"तब भी तो धरती माता उसके भरण-पोषण के लिए नाना प्रकार के कन्द-मूल, फल-फूल उपजाए खडी रहती है। जब सब कुछ प्राकृतिक संकेत से हो रहा है, तो मनुष्य के श्रम नामक कौनसी वस्तु शेष रह जाती है। जब श्रम ही न रहा तो फिर कैसी उसकी अशुद्धि और कैसी शुद्धि ?"

"तब क्या मनुष्य भोजन करने के श्रम के अतिरिक्त भोजन उपजाने का श्रम करने के लिए बाध्य नहीं है ?" अपने ही से वह प्रश्न पूछकर पंडितजी ने स्वयं उत्तर दिया—"नहीं है। तब क्या केवल विचार करने के लिए ही मनुष्य की सृष्टि हुई है ? विचार की कर्म-परिणति भौतिक बन्धन बढाती है उसका प्रवाह बाह्य नहीं अन्तर जगत की ओर होना चाहिए। क्या है विचार से ऊपर ? उसकी पकड में न आ सकने वाली एक धूमिल संज्ञा—आत्मा। कर्म की एकता साधने से जिस प्रकार विचार इन्द्रियो की पकड में आ जाता है, निश्चय ही ध्यान की धारणा उस इन्द्रियातीत संज्ञा का अर्थ खोल देती है।" पंडितजी ने हँसिया

भूमि पर डाल दिया और हाथ की बाले भी ढेर मे जमा कर दी।

एक मेंड के ऊपर बैठ गए। बहुत देर तक कुछ विचार करने के अनन्तर उठ गए—"यह श्रम एक कृत्रिमता है। खेती मनुष्य का स्वाभाविक उद्यम नहीं है, एक बनावट है। इसीलिए आत्मशोध मे लगे हुए ऋषि-मुनियो के लिए खेती एक निषिद्ध वस्तु थी। हल ही नही, कुदाल भी उतना ही अपवित्र है, हँसिया भी उतना ही दूषित।"

उनके खेतो के बाहर बटिया से कुछ गायें चरने के लिए वन को जा रही थीं। पंडितजी उधर दौडे। उन्होने अपने खेत की बाड के काँटे हटाकर उसमे मार्ग खोल दिया और समस्त पशुओ को अपनी लहलहाती हुई खेती के बीच मे छोड दिया।

पीछे-पीछे चला आता हुआ चरवाहा बालक चकराकर पूछने लगा—"पंडितजी, आप तो प्रसन्न होकर ताक रहे हैं। कैसे चली गईं यह ?"

"मैने ही तो हाँक दीं।" पंडितजी हँसने लगे।

"क्यो, पका हुआ पचा नहीं आपको, कच्चा भी भारी हो गया ?"

"हाँ भाई।"

"फिर खायँगे क्या ?"

"माता के रहते हुए बालक को क्या चिन्ता है खाने की ?"

"आपकी माता तो नगर मे हैं, क्या वहीं फिर लौट जायँगे आप ?"

"क्यो लौट जाऊँगा ? लौटना कायरता है। नगर छोड़कर ग्राम मे आया हूँ तो यहाँ से आगे ही बढ़ूँगा न ?"

"आगे कहाँ ?"

"वन के एकांत मे।"

"वहाँ से फिर आगे ?"

"पहाड की चोटी पर।"

"वहाँ से ?"

"वहाँ से आगे भी स्थान है बालक !"

चरवाहा पंडितजी की बातो से आश्चर्य में पड गया। हरी-भरी खेती पर गाएँ मुँह मार रही थीं। वह बालक, अनभ्यस्त दृश्य सहन न कर सका। विवशता से वह लाठी उठाकर उन्हे हाँकने को बढा।

पंडितजी ने रोक दिया उसे—"खाने क्यों नहीं देते। मै जो कह रहा हूँ।"

"वे तो बालें भी खा जा रही हैं।"

"तुम्हारे लालच उत्पन्न हो रहा है। मैं समझता था सिक्का ही लालच उत्पन्न करता है। अन्न भी तो! सिक्का यदि भरे पेट का लालच है तो अन्न भूखे पेट की संघर्ष-ज्वाला। तुम अपने लिए बचा सकते हो इन बालो को।"

बालक ने संकोच में पडकर पूछा—"आप ?"

"कह तो चुका हूँ। मुझे माता को करुणा का आश्वासन मिला है। वह माता धरती माता है। वह हल से उत्पीडिता रो-रोकर चिल्लाती है। मैंने उसका रुदन सुना है। वह कहती है—मनुष्य के भरण पोषण के लिए मैने क्या नहीं उपजा रक्खा है ?"

"किसानी समाप्त हो गई आपके ? पत्ते चबायँगे फिर क्या आप ?"

पंडितजी हँसे—"क्यो ? पत्तों में कुछ तत्व नहीं है तो गौमाता के स्तन मे वह धारा कहाँ से आती है ?"

"काट लूँ फिर मैं इन बालो को ? आपके चाचाजी असन्तुष्ट तो न होंगे ?"

"नहीं। यह हँसिया भी मैंने तुम्हे दे दिया।"

पंडितजी घर की ओर चल दिए और चरवाहा हँसिया उठाकर पशुओं को एक ओर हाँककर बालें अपने लिए जमा करने लगा।

बडे अन्यमनस्क भाव से पंडितजी आँगन मे चाचाजी के निकट बैठ गए।

"क्यो बेटा ! कैसे लौट आए इतनी जल्दी ? तुम तो गेहूँ लवाने गए थे।"

"मैने पशुओ के लिए तोड दी खेती की घेर-बाड।"

"क्या कहते हो ?"

"सच ही चाचाजी ! खेती मनुष्य का स्वाभाविक कर्म नहीं है।"

"फिर क्या होगी अब तुम्हारे शुद्ध श्रम की परिभाषा।"

"मैंने सिक्के की कृत्रिमता से घबराकर नगर छोड दिया अब रोटी की बनावट से भी आगे बढ़ जाना चाहता हूँ।"

"किधर ?"

"दुर्भेद्य एकान्त के भीतर।"

"परन्तु मनुष्य को भूख लगती है और भूख श्रम चाहती है।"

"जिस प्रकृति ने उसके भूख उपजाई है, उसी ने उसके लिए भोजन भी। शरीर की चिन्ता ने प्रकृति के विश्वास मे मिलकर श्रम का अस्तित्व मिटा दिया।"

"तुम चतुर्मुखी वर्णात्मकता के पोषक थे।"

"चार दो मे मिल गए चाचाजी—वह दो भीतर और बाहर की गिनती है। उस दो का कलह मिटाकर उसकी एकाकारिता ही हमारा लक्ष्य है। शूद्र वैश्य मे लीन हो जाता है, वैश्य क्षत्रिय में और क्षत्रिय ब्राह्मण मे; केवल ब्राह्मण ही शेष रहता है ब्रह्म की व्याहृति के लिए।"

चाचाजी मन-ही-मन प्रसन्न हो उठे, पर उस प्रसन्नता को दबाकर बोले—"मनुष्य के जीवित रहते, वह कर्मों से नही छुट सकता, फिर तुम कैसे श्रम का लोप कर सकोगे ? केवल इन्द्रियो का बाहरी संसर्ग ही कर्म नही है उनकी मानसिक गति भी तो एक श्रम ही है।"

"आप विचार को एक कर्म ही कह रहे हैं ?"

"है तो वह।"

"मान लेता हूँ इसे।"

"फिर तुम्हारे शुद्ध श्रम की क्या व्याख्या हुई ?"

"है चाचाजी, कदाचित् यहाँ पर हम-दोनो के विचार एक हो गए। विचार को श्रम मान लेने पर है उसकी परिभाषा भी।"

"सुनूँ तो।"

"केवल भगवान् के अर्थ जो श्रम किया जाता है वही शुद्ध श्रम है। आपने भी तो एक दिन यही कहा था। केवल विचार की अन्तरगति।"

"फिर क्या करोगे?"

"केवल त्याग, समस्त बन्धन काटकर शून्य एकान्त मे बढ जाऊँगा। सब कुछ त्याग देने से कुछ भी नहीं करना पडेगा।"

"जप-तप, ध्यान-योग?"

"इनका भी त्याग! कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। इच्छा नाम की जो शक्ति है, संकल्प नामक जो उसका साधन है, फल-सहित इन तीनो का न्यास, चाचाजी!"

"धन्य हो! चिरंजीव होओ बेटा!" हठात् चाचाजी के मुख से आशीर्वाद निकल पडा।

ग्यारह

चोर-बाजारी से अच्छा धन कमाकर उसकी बुनियाद पर लछमियाँ ने फल फूल और सागपात की ठेकेदारी आरम्भ की।

क्लीनर से ड्राइवर हुआ वह। फिर अपनी मोटर खरीद ली। हमदम का साथ नहीं छोड़ा उसने। हमदम एक विरक्त प्रकृति का मनुष्य था। धन के लालच मे पडे हुए लछमियाँ को उसमें कोई भय नहीं दिखाई दिया।

हजार-पाँच सौ रुपया व्यय कर लछमियाँ ने भूमिया के मन्दिर का जीर्णोद्धार करा दिया और साफ-सुथरे कपडे पहन सम्भ्रान्त मनुष्यो की श्रेणी में परिगणित हो चला। उसने समझा क्लीनरी का समस्त मैल धुल गया।

गाँव में माता-पिता के लिए उसने सुन्दर पक्का मकान बनवा दिया। पधानजी की दासता से मुक्त कर देने के लिए कुछ भूमि भी उनके लिए क्रय कर ली उसने।

माता-पिता बार-बार उससे विवाह करने का अनुरोध करने लगे; और वह भाँति-भाँति की बातो से टालमटोल करने लगा। उसके मन में तो परुली का परिचय बढता जा रहा था। वह नृत्यबाला लछमियाँ से विवाह कर लेने को सब प्रकार से सहमत थी, लछमिआँ भी। किन्तु समाज की उपेक्षा कर सकने लायक उसके पास न तो सामर्थ्य थी और न ही धन।

वह रात-दिन धन बढाने की धुन मे रहने लगा। खाते-पीते, सोते-जागते, वही स्वप्न देखता। वह कहता—"धन का बढ़ना ही असली बढ़ना है। बढ़िया ऊँचा मकान—साफ-सुथरा, कई तलों का, रंग-वार्निश, से चमचमाता हुआ। धरती से ऊँचा फरनीचर कि खाना-पीना, जागना-सोना, हँसना-बोलना, खिलना-खेलना, फूलना-फैलना सब ऊपर-ही ऊपर। तार, नल और नालियो द्वारा आकाश-पाताल से उसके जोड लगे हो। बाहर बिजली, भीतर बिजली। बैठक मे बिजली, रसोई में बिजली, आँगन में भी वही और स्नानघर मे भी वही और उसी का स्विच सिरहाने दबाए शय्या पर। कुछ खटका हुआ नहीं कि खट से दबाया और उजाला कर लिया। न दिया, न दियासलाई। कितना सुभीता, कितनी सरलता से ? सुभीता ही तो सभ्यता है। कम-से कम कष्ट उठाना ही सभ्यता है।"

"गरम पानी का अलग और ठंडे पानी का नल अलग। जरा कान मरोडा नही कि प्रकट हो गई गंगाजी। बटन दबाया चूल्हा तैयार; चाहे कमरा गरम कर लो चाहे खाना बना लो—न लकडी की आवश्यकता न कोयले की, न राख और न धुँआ। टेलीफोन हाथ मे लो तो यार-दोस्तो से बाते कर लो और रेडियो की कील घुमा दो तो सारी दुनिया के समाचार सुन लो पडे-ही-पडे। बडे-बडे गवैये आपके यहाँ आकर गाना सुना जायँगे, भारी-भारी एक्ट्रेसें आकर अपनी-अपनी कला दिखा जायँगी और महा-से-महा नेता अपने संदेश बिठा जायँगे आपके कानो मे। क्या यही बढना नहीं है? और इस बढने की जड में धन ही एकमात्र आवश्यकता नही है? जो आलसी है, वही धन के संग्रह को माया कहता है, वही सभ्यता को झूठी आवश्यकताओ का जंजाल बताता है। सुख का मूल्य कहाँ समझ पाता है वह?"

एक दिन लछमियाँ ने हमदम से कहा—"उस्ताद, अब तो बहुत धूल फाँक चुके इन मोटर की सडकों पर। चक्का घुमाते, रेंच एेंठते, पम्प करते हवा बिगड गई, अब तो कुछ और आगे बढ जाने की इच्छा है।"

"होगी भैया," हमदम ने लछमियाँ की पीठ में अच्छी थपकी जमाई, "तुमने तो माल जमा किया है परुली के पास। हमदम, जनम का फक्कड, वह किस बूते पर इतना बडा बोल बोल सकता है।"

"उस्ताद, लछमियाँ का सब-कुछ आपका है। हलद्वानी मे जमीन का हिसाब लगाया है मैने। एक मकान खडा कर लेगे वहाँ, जान-पहचान सबसे है। चूने-पत्थर की कमी नही। पेच-परेक, लोहा-लकडी खीच ही लायँगे कहीं-न-कहीं से।"

"तुम्हारे भीतर तो यह पैसा बोल रहा है। मै कैसे तुम्हारी हाँ-मे-हाँ मिलाऊँ। मेरे पास तो कानी कौडी भी नहीं है।"

"मै कब तुमसे माँगता हूँ? मै सब-कुछ स्वयं ही कर लूँगा। लछमियाँ की साख बढ चुकी है। दस जगह से उसकी कमी उधार मे भी भर सकती है। परुली भी कुछ अपना रुपया दे देगी।"

"लेकिन यह परुली!"

"उस्ताद, तुमने केवल उसका गाना ही सुना है।"

"मैने कब उसके गाने की तारीफ नही की?"

"आपने अगर उसका दिल भी टटोला होता, तो आप जानते, परुली मे एक कलाकार से कही बड़ी नारी का निवास है।"

"एक तो नर्तकी फिर कुछ पढ़ी-लिखी, बातो की जादूगरनी; उसने तुम्हारी खोपडी पर ऐसी लकड़ी घुमाई है कि उसके सिवा तुम्हे कुछ और दिखाई ही नहीं पडता दुनिया में!"

"तुम भूलते हो उस्ताद। तुम नही जानते परुली किस चीज की बनी है।"

"वह तुम्हारी सारी पूँजी हडप जायगी और डकार भी न लेगी। अगर तुम्हारे यह मकान बनाने का नकशा उसके चंगुल से अपनी रकम ऐंठ लेने का है, तो बात कुछ जँचती है। लेकिन इस भयानक मँहगी में कोई बना-बनाया मकान खरीदते तो ठीक था। लेकिन मै कहता हूँ मकान ऐसा क्या बडा ज़रूरी हो गया?"

"तुम्हारे रहने को, मैं भी रहूँगा।"

"मै क्या रहूँगा। अरे हमदम के लिए तो वह मोटर की पटरी ही काफी है। उसी मे करवटें बदली है, उसी मे बदलता रहूँगा।"

"नीचे गोदाम होगा, ऊपर आफिस और उसके ऊपर हम लोग रहेगे। मोटर चलाने के लिए नौकर रख लेंगे। दफ्तर चलाने को एक बाबू। एक टूटा टाइपराइटर खरीदा है मैंने, सहज ही उसकी मरम्मत हो जायगी। बिजिनेस करेंगे उस्ताद, कमीशन एजेंट बनेंगे। माल ढोने को दो मोटरें है ही, एक-दो और खरीद लेगे।"

"मै क्या करूँगा उस मकान में रहकर? मै तो इसी चलते-फिरते मकान का कीडा हूँ, वही पसन्द है मुझे।"

"नही उस्ताद, तुम केवल बैठे रहना। मौज आवे तो कुछ देखभाल करना, नही तो आराम करना। जीवन मे दिन-रात घोर परिश्रम किया है। चौथापन आराम के लिए है और भगवान् की याद के लिए।"

"परुली कहाँ रहेगी?"

"उसी मकान मे।"

"हा! हा! हा! तब यह सारे ठाठ उसके लिए रचे जा रहे है। हमदम क्या रहेगा उसमे?...मकान किसके नाम मे होगा?"

"नाम में क्या रक्खा है, काम से है मतलब। नाम सब यहीं रह जाता है उस्ताद!"

"तभी तो मैं कहता था यह परुली तुम्हे रुपया क्यो देने लगी? वह जरूर मकान अपने नाम मे करायगी।"

"पर उसका मन मेरे नाम मे है।"

"झूठी बात!"

"बिलकुल सच उस्ताद!"

"क्या वह तुमसे विवाह करने को राजी है?"

"उसके मन, रूप और कला की विशालता को बाँधने के लिए विवाह की डोरी बहुत छोटी है उस्ताद! मै चाहूँ तो वह तैयार है,

लेकिन मै ही उसे इस छोटे-से बन्धन में जकड देना नहीं चाहता ।"

"हूँ," हमदम ने कुछ सोचकर कहा, "मैं समझता था, मकान के बहाने तुम उसके पंजे से अपना रुपया छुडा लोगे, पर यहाँ तो तुम खुद ही उसके पास गिरवी पडे हुए हो ।"

"नहीं उस्ताद ! लछमियाँ इतना सस्ता नहीं है । दुनिया मे भगवान् को मानता हू । उनके बाद आपके लिए आदर है मेरे मन मे। आप उस्ताद हैं; आपने बढावा दिया है, बढाया है । और इस परुली को भी मानता हूँ। आपसे मेरी भलाई-बुराई कुछ छिपी नही है । परुली के रूप, आभूषण और विद्या की बात भी छोड दीजिए, उसके हृदय मे भलाई है और है प्रेम ।"

"वेश्या के पास प्रेम ? चील के घोसले मे माँस ?"

"तुम नहीं कह सकते उसे वेश्या । वह केवल गीत का सौदा करती है, प्रेम का नही । यह आपको मालूम है ।"

"अरे उसकी बात भले-भले नहीं जान सकते, यह बेचारा हमदम एंजिन-पहिया, ब्रेक-गियर, चक्के-पहिए, पम्प-भोंपू की बात जानता है सिर्फ। उसे क्या मालूम है ?"

"उस्ताद, तुम मेरे आगे बढने के डायनेमो हो तो वह मुझे आगे बढाने का सितारा है ।"

"सितार हो या सितारा, यह खटराग कुछ नहीं समझता मै । तुम्हीं यह सब आर्ट जानते-पहचानते हो। मै तो सिर्फ भोंपू के राग को जानता हूँ, जो सामने पहिए के नीचे दब जाने से आदमी को इधर-उधर करके बचा देता है । तुम जानो, तुम्हारा काम जाने । सिर्फ सितारे को ही देखते हुए न रह जाना, जमीन में ठोकरें भी है ।" कुछ विरक्ति का-सा भाव दिखाकर हमदम मुँह फिराकर बैठ गया सडक की एक दीवार पर । उसने बीडी सुलगाई ।

बात तिपनियाँ की थी । लछमियाँ भी कुछ रिसाकर बैठ गया । वह उस्ताद के स्वभाव को जानता था । उसे पक्का विश्वास था, कुछ

देर न बोलने पर हमदम अपने-आप मन का सारा मैल धोकर फिर उससे बोलने लग जायगा।

लछमियाँ ने जेब से हिन्दी की वर्णमाला की किताब निकाली और पढने लगा—"क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः; ख, खा—"

हमदम तुरन्त ही उठकर उसके सामने खडा हो हँसते हुए कहने लगा—"यह क्या है रे ?"

"पढना-लिखना सीख रहा हूँ।"

"स्कूल मे नाम लिखायगा ?"

"लिखा ही हुआ है।"

"किस स्कूल मे ?"

"परुली के स्कूल मे। उसी ने पढने लिखने की ओर मेरी रुचि बढाई है। पढ़ना-लिखना भी आगे बढने का सहायक है। पंडितजी के स्कूल मे जो बात छूट गई थी वह परुली के स्कूल में मिली उस्ताद। मै क्यो न उसके हृदय की बडाई करूँ। एक ही दिन मे उसने मुझे हिन्दी के एक दर्जन स्वर और तीन दर्जन व्यंजन लिखा दिए। स्वर और व्यंजन का मेल मिलाकर बारहखडो की पलटन तैयार कर देना अब मेरे बाएँ हाथ का खेल है। आप कहे तो आपको भी सिखा दूँ।"

"अब इस बुढापे मे क्या सीखूँ ?"

"विद्या और धन कमाने के लिए आदमी को कभी अपने को बूढा नहीं समझना चाहिए।"

"फायदा क्या है ?"

"अखबार पढेंगे, ठाठ से। दुनिया किधर बढ रही है मालूम होगा, हिसाब लिखेगे, चिट्ठी-पत्री लिखेगे। अँगूठा टेकने की बेइज्जती से बचने के लिए अभी तक बैंक मे हिसाब नहीं खोला है मैंने।"

"बैक में हिसाब ?" चकराकर हमदम ने पूछा।

"हाँ उस्ताद !"

देर न बोलने पर हमदम अपने-आप मन का सारा मैल धोकर फिर उससे बोलने लग जायगा।

लछमियाँ ने जेब से हिन्दी की वर्णमाला की किताब निकाली और पढ़ने लगा—"क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः; ख, खा—"

हमदम तुरन्त ही उठकर उसके सामने खड़ा हो हँसते हुए कहने लगा—"यह क्या है रे ?"

"पढ़ना-लिखना सीख रहा हूँ।"

"स्कूल में नाम लिखायगा ?"

"लिखा ही हुआ है।"

"किस स्कूल में ?"

"परुली के स्कूल में। उसी ने पढ़ने लिखने की ओर मेरी रुचि बढ़ाई है। पढ़ना-लिखना भी आगे बढ़ने का सहायक है। पंडितजी के स्कूल में जो बात छूट गई थी वह परुली के स्कूल में मिली उस्ताद। मैं क्यों न उसके हृदय की बड़ाई करूँ। एक ही दिन में उसने मुझे हिन्दी के एक दर्जन स्वर और तीन दर्जन व्यंजन लिखा दिए। स्वर और व्यंजन का मेल मिलाकर बारहखड़ी की पलटन तैयार कर देना अब मेरे बाएँ हाथ का खेल है। आप कहें तो आपको भी सिखा दूँ।"

"अब इस बुढ़ापे में क्या सीखूँ ?"

"विद्या और धन कमाने के लिए आदमी को कभी अपने को बूढ़ा नहीं समझना चाहिए।"

"फायदा क्या है ?"

"अखबार पढ़ेंगे, ठाठ से। दुनिया किधर बढ़ रही है मालूम होगा, हिसाब लिखेंगे, चिट्ठी-पत्री लिखेंगे। अँगूठा टेकने की बेइज्जती से बचने के लिए अभी तक बैंक में हिसाब नहीं खोला है मैंने।"

"बैंक में हिसाब ?" चकराकर हमदम ने पूछा।

"हाँ उस्ताद !"

"क्या है आगे बढना? कुछ नहीं। कौन आगे बढ रहा है? कोई भी नही। हल्द्वानी से चलकर पहाड का चक्कर लगा हम फिर वहीं पहुँच जाते हैं।" उस्ताद बोले।

चेले को याद आ गया उसका वह स्कूल। 'बढ चलो' का गीत गाते हुए, स्कूल की परिक्रमा कर वह वहीं पर आ जाता था। लछमियाँ मन मे कहने लगा—"उस्ताद ठीक ही तो कह रहे हैं।"

"कोई नहीं बढ रहा है बेटा! सिर्फ उमर मे बढ रहे है सब, और उमर मे बढना है, मौत के नज़दीक बढना। कनपटियाँ सब सफेद हो चली हमदम की। दाँतो की जडें हिल गईं।"

परन्तु इस वैराग्य का लछमियाँ के नवीन रक्त मे कोई काँटा नही चुभा। वह बोला—"चलिए, बम्बई चलिए।"

"किसलिये?"

"एक जंतर लगा रहा हूँ परुली के साथ। लेकिन कुछ पैसा और कमा लूँ। अगर चल गया चक्कर, तो रुपये का ढेर लग जायगा।"

"क्या करोगे बम्बई जाकर?"

"सिनेमा कम्पनी, उस्ताद। परुली की विद्या का आदर कौन करता है यहाँ? मै उसे सिनेमा की कम्पनी मे एक्ट्रेस बनाकर घर-घर उसकी फोटो सजवा दूँगा।"

"लेकिन हमदम कही नहीं जायगा।"

"और लछमियाँ भी तुम्हे नही छोडेगा।"

लछमियाँ ने कुछ ही दिनो मे पढना-लिखना दोनो सीख लिये। किसी भी काम मे उत्कट रुचि के उत्पन्न हो जाने से उसकी सारी कठिनता चली जाती है। हाथ मे पुस्तक ले लेने से लछमियाँ समझता था, अब सार्थक हुआ है चश्मा पहनना।

उसकी मास्टरनी ने परम सन्तुष्ट होकर उस दिन कहा—"इतने थोडे समय मे तुमने पढने-लिखने मे जो उन्नति दिखाई, उससे बडा आश्चर्य है मुझे।"

"तुम-सी मास्टरनी मिल जाने पर कौन नही सीख जाता ? मेरे नही, यह तो तुम्हारे ही गुण है।"

"यदि समय पर पढ़ना आरम्भ कर लेते तो न जाने कहाँ पर होते ?"

"शब्दो का भंडार तो पंडितजी ने बढाया था मेरा, न जाने क्यो अक्षरों पर परदा डाल दिया। गाना भी सिखाते थे हमे। लेकिन मुझे तो नहीं आयगा कभी। सुनने का चाव बहुत है मुझे। गीत के स्वरो का तुम्हारा फैलाव सारी सृष्टि को ढक लेता है, उस समय मेरी सारी सुध-बुध उस तन्मयता मे खो जाती है। पर यहाँ कौन तुम्हारा गीत समझता है ?"

परुली हँसने लगी।

"तुम अद्भुत परी हो, तुम्हे एक अनुरोध मानना ही पडेगा मेरा।"

"कैसा अनुरोध तुम्हारा ?"

"यही जो इतने दिनो से कह रहा हूँ तुमसे। तुम्हें पब्लिक में गाना बंद कर देना चाहिए।"

"क्यो ?"

"क्योंकि कला को बेचना, उसको लांछित कर देता है।"

"फिर खाऊँगी क्या ?"

"कला आत्मा की तृप्ति है। ऐसी लोक-तृप्ति का साधक कलाकार, उसके कोई भूख नही है। मैं इस प्रतिभा को योग्य आसन में स्थापित करूँगा। मेरे ऊपर रहा तुम्हारे भोजन का उत्तरदायित्व। तुम बहुत ऊँचे रहने के लिए बनाई गई हो। यह तिपनियाँ का वायुमंडल कदापि तुम्हारे योग्य नहीं है। इनमे से एक भी तुम्हारी कला को नहीं समझता। तुम्हारे प्रत्येक गीत के आदि, मध्य और अन्त मे जो ये 'धन्य-धन्य' की ध्वनि लगाते हैं, वे सब झूठे हैं। नहीं, नहीं, मैं तुम्हे इस तरह लोफरों की मंडली में अब गाने देना नहीं चाहता।"

"तुम-सी मास्टरनी मिल जाने पर कौन नहीं सीख जाता? मेरे नहीं, यह तो तुम्हारे ही गुण हैं।"

"यदि समय पर पढ़ना आरम्भ कर लेते तो न जाने कहाँ पर होते?"

"शब्दों का भंडार तो पंडितजी ने बढ़ाया था मेरा, न जाने क्यों अक्षरों पर परदा डाल दिया। गाना भी सिखाते थे हमें। लेकिन मुझे तो नहीं आयगा कभी। सुनने का चाव बहुत है मुझे। गीत के स्वरों का तुम्हारा फैलाव सारी सृष्टि को ढक लेता है, उस समय मेरी सारी सुध-बुध उस तन्मयता में खो जाती है। पर यहाँ कौन तुम्हारा गीत समझता है?"

परुली हँसने लगी।

"तुम अद्भुत परी हो, तुम्हें एक अनुरोध मानना ही पड़ेगा मेरा।"

"कैसा अनुरोध तुम्हारा?"

"यही जो इतने दिनों से कह रहा हूँ तुमसे। तुम्हें पब्लिक में गाना बंद कर देना चाहिए।"

"क्यों?"

"क्योंकि कला को बेचना, उसको लांछित कर देता है।"

"फिर खाऊँगी क्या?"

"कला आत्मा की तृप्ति है। ऐसी लोक-तृप्ति का साधक कलाकार, उसके कोई भूख नहीं है। मैं इस प्रतिभा को योग्य आसन में स्थापित करूँगा। मेरे ऊपर रहा तुम्हारे भोजन का उत्तरदायित्व। तुम बहुत ऊँचे रहने के लिए बनाई गई हो। यह तिपनियाँ का वायुमंडल कदापि तुम्हारे योग्य नहीं है। इनमें से एक भी तुम्हारी कला को नहीं समझता। तुम्हारे प्रत्येक गीत के आदि, मध्य और अन्त में जो ये 'धन्य-धन्य' की ध्वनि लगाते हैं, वे सब झूठे हैं। नहीं, नहीं, मैं तुम्हें इस तरह लोफरों की मंडली में अब गाने देना नहीं चाहता।"

"यह सम्बोधन कैसे मिटा दोगे तुम ?"

"तुम पब्लिक मे गाना छोड़ दोगी और तुम्हारा नाम रख दिया जायगा एक्ट्रेस, सिनेमा की नटी। फिर कोई तुम्हारी ओर उँगली न उठा सकेगा।"

"पर मै सिनेमा की नटी हूँ कहाँ ?"

"इतना बढिया नाच-गाना जानती हो, इतना अद्भुत तुम्हारा रूप है—पढी-लिखी, सभा-चतुर ! और क्या कमी रह जाती है, फिर तुम्हारे एक्ट्रेस बन जाने मे ?"

"हाँ कमी तो कुछ नहीं है, लेकिन एक्ट्रेस बना कौन लेगा ?"

"जिसको आवश्यकता होगी, वह बनाएगा। मै बनाऊँगा, मै ले जाऊँगा तुम्हे बम्बई।"

"तुम ले जाओगे ?"

"हाँ कोई संशय मत करो। वास्तव में जाओगी तो स्वयं ही अपनी योग्यता से, केवल एक निमित्त मात्र का साथी मै रहूँगा तुम्हारे। पंडित जी की संगति मे कल्पना बढाकर मोटर की सडक पर आया, हमदम की कृपा से मैंने धन जोड़ने का रहस्य पाया, और तुम—तुम एक अद्भुत शक्ति हो, तुमने विद्या का भेद खोलकर मुझे सभ्य बना दिया। पंडित जी ने मोटर का केवल रूप दिया, हमदम ने उसकी प्रत्यक्षता, परन्तु बढ जाने का मार्ग-निर्देश तुमने किया—परी !"

"तुम कहाँ ले जा रहे हो लछम मुझे ? नही जानती; मुझे भय लग रहा है।"

"तुम्हे निर्भय होना चाहिए।"

"तुम्हारा एकांत बंधन ! तुम विवाह के बंधन में तो न जकड़ लोगे मुझे ?"

"नहीं, मैं इतना स्वार्थी नहीं हूँ।"

"मेरे गीत-प्रेमियो का क्या होगा ?"

"उन्हें अखबारों के विज्ञापनो मे तुम्हारे नाम की प्रतीक्षा करनी

होगी। वे झूठे गीत-प्रेमी हैं। वे तुम्हारे नगर-निकाले के कारण हैं।"

"लेकिन तुम आग को अपने हाथों में बाँधकर न रख सकोगे लछम!"

"दियासलाई की डिबिया में छिपाकर अवश्य रख लूँगा।"

परुली हँस पडी।

"तुम हो तैयार?"

"हाँ—नहीं। पर पहले मकान तो बनवा लो।"

"मान लो मकान बन गया।"

"तो मान लो मै भी आकर उसमे रहने लगी।....लेकिन गरमियों मे, बरसात में?"

"यहीं आ जाना पहाड पर।"

लछमियाँ ने हलद्वानी में मकान बनवा लिया, पूरे-पूरे अपने मन के अंकन के अनुरूप। उसकी काली बाजारी के उस शुभ्र स्तम्भ ने वायु मंडल मे मस्तक ऊँचा उठाया।

उसने मोटर ड्राइवरी छोड दी और फल-फूल के व्यवसाय मे ही दत्तचित्त हुआ। एक मोटर और मोल ले ली। नौकर-चाकर ही उन्हे चलाने लगे। उसने पूर्व निश्चय के अनुसार अपने नए मकान में दूकान भी खोली और दफ्तर भी। उसके मार्ग की नक्षत्र परुली, उसके विचारो पर माथा नवा उसके एकांत बंधन में आकर रहने लगी।

उसने अपने पुराने मित्रों से विदा ग्रहण कर ली। वह जनता के बीच मे अब कभी न गाती। कभी घर से बाहर भी न निकलती। सिनेमा देखने या बाजार जब जाती, तो अँधेरा होने पर और बडी विनय-धीरता के साथ, शील और वस्त्रों से आच्छादित होकर।

केवल एक आशा परिपूर्ण न हो सकी लछमियाँ की। हमदम का जी उखड गया पहाड पर से। मुख्य कारण था, उसके शरीर मे आयु के वार्धक्य की दुर्बलता के साथ-साथ रोग भी रहने लगा था। पहाडी आब-हवा उसकी सहायक न हुई।

लछमियाँ ने हमदम के रोग-निवारणार्थ. हर प्रकार के उपाय किए, पर्याप्त धन भी व्यय किया। अंत मे उसे लाचार होकर हमदम की बात माननी ही पडी।

हमदम अपनी गाडी बेचने को उद्यत हुआ। लछमियाँ ने उसे नही बेचने दिया। उस्ताद की वह गाडी उसकी उन्नति की अनेक स्मृतियो से जडी हुई, उसके आदर की वस्तु थी। वह किसी प्रकार उससे बिछुड जाने को तैयार नही हुआ। उसने बहुत अच्छे मूल्य मे उस गाडी को मोल ले लिया। उसके अतिरिक्त और भी एक उचित धनराशी गुरु-दक्षिणा के रूप मे अपने उस्ताद को दी। हमदम अपने देश को चला गया।

परुली के रूप और कला ने लछमियाँ की कल्पना मे अनेक शाखा-प्रशाखाएँ उपजा दी थी। उनके जाल मे लछमियाँ के उस्ताद का अभाव सहज ही छिप गया। पहाड की ओर पीठ करके लछमियाँ ने बढ़ जाने के लिए बम्बई की ओर मुख किया। अब तो उसके पास अपना गौरव प्रकट कर सकने योग्य धन भी संचित हो गया था। उसके अध्ययन मे भी बराबर वृद्धि होती गई। पत्र और पुस्तको के पाठ से उसकी जान-कारी का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

सिनेमा के रजत-पट की लछमियाँ जो हवाएं बाँधता था, उन पर तो परुली का इतना आकर्षण न था, लछमियाँ के स्वभाव में अवश्य कुछ ऐसी बात थी जिसने परुली की कल्पना को अपनी ओर खींच लिया था। लछमियाँ का धन-संग्रह उसके मोह का कारण न था, पर उसकी साक्षरता निःसन्देह परुली की प्रीति को बढा चली।

परुली ने अपने समस्त पूर्व मित्रों से सम्बन्ध तोड़ लिये। परन्तु कुछ ऐसे थे जिनका निराकरण हो नहीं सका था।

उसने एक दिन लछमियाँ से कहा—"लछम, तुमने जिस एकांत में मुझे बन्दी किया है, अभ्यस्त हो जाने से यह मुझे प्रिय हो उठा है।"

"तुम्हारा क्या मतलब है?"

"यही कि यह जो दो-चार तुम्हारे और मेरे मित्र यहाँ आकर उत्पात मचाते है, मुझे यह अरुचिकर हो उठा है ।"

"वे सभ्य है ।"

"नहीं, उनका उन्मत्त परिहास मेरे क्षोभ को बढाता है। मैं उन्हे स्पष्ट ताडना दे चुकी हूं। तुम्हें भी अपने द्वार उनके लिए बन्द कर देने उचित हैं।"

"किस प्रकार ? उपाय बताओ।"

"उपाय सहज है। जब तुमने मुझे बंदी किया है तो तुम्हें भी तो कुछ मेरे बन्धन मे पडना चाहिए न।"

"दिन-रात तुम्हारे ही तो बंधन में पडा हूँ।"

"मैने सुना है, तुम्हारे पिता ने तुम्हारा विवाह ठहराया है।"

"उससे क्या होता है ? मुकुट तो मेरे सिर पर बँधेगा न ?"

"परन्तु लछम, मेरे भी तो मुकुट बाँधने की इच्छा प्रबल हो उठी है ।"

लछमियाँ कुछ नही समझा—"क्या मतलब है तुम्हारा ? सिनेमा कम्पनी में चलने की बात पर आओ। वहाँ तुम नित्य नए मुकुट बाँधोगी। लक्ष्मी, सती, सीता, सावित्री पौराणिक नारियों के भी, मीरा बाई, पद्मिनी, अहल्याबाई, लक्ष्मीबाई आदि ऐतिहासिक नारियो के भी।"

"सिनेमा की बात नहीं कहती मै। मैं तुम्हारे और अपने सामाजिक बंधन की बात कहती हूँ।"

लछमियाँ कुछ समझा और घबराने लगा।

परली ने बात स्पष्ट करके कहा—"यदि हम दोनों का विवाह हो जाय तो फिर हमारे मार्ग के ये विघ्न स्वयं ही दूर हो जायंगे। इन वाक्यो मे मेरे हृदय का निष्कपट प्रेम ही तो बोल रहा है।"

"तुम्हारे साथ विवाह ?"

"क्यो अस्वाभाविकता है क्या ?"

"परी, जब मैने अपनी सत्ता तुम पर निछावर कर दी है तो फिर

विवाह के लेबल मे ही क्या रक्खा है ?"

"मै समझती थी तुम तुरन्त ही इसके लिए सहर्ष तैयार हो जाओगे। लेकिन तुम्हारे मन मे एक संकोच है।"

"संकोच यही है तुम कलाकारिणी हो, तुम्हारे हृदय की विशालता को मै विवाह के बंधन मे नही बाँध सकता।"

"नहीं, इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है, मै एक अछूत-कन्या हूँ और तुम मुझे जो प्रेम देते हो वह तुम्हारे हृदय की पवित्रता नहीं है।"

"अछूत-कन्या ! कदापि नहीं। मै सामाजिक बंधनों को समय की गति के साथ आगे बढने मे सम्मिलित करता हूँ। मैं किसी बात मे तुम्हारी छूत नहीं मानता। तुम्हारे साथ रहता, खाता-पीता हूँ। तुम यह भली प्रकार जानती हो। तुम्हारे कारण मैने अपनी बिरादरी के बंधन भी तोड दिए है।"

"यह सब होने पर भी तुम्हें मेरी बात माननी चाहिए। पारस्परिक विश्वास से हमारा प्रेम परिपक्व होगा। अपना सब-कुछ जब मै तुम्हें सौंप देने को प्रस्तुत हो रही हूँ तो क्यो अपनी इच्छा की स्वतन्त्रता के लिए व्याकुल हो।"

लछमियाँ सोच-विचार में पड गया।

"वेश्या ! क्या इतनी पतित है लछम ! समाज का निकृष्ट-से-निकृष्ट मनुष्य नगर में अपना लम्बा-चौडा नाम-पट लगाकर रह सकता है और पापो का कलुष ढोनेवाली वेश्या इतनी बड़ी गन्दगी है कि नगर की पवित्रता नष्ट हो जायगी उससे ?"

"मै तो नहीं मानता यह बात। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ वेश्या स्वयं पतित होकर पवित्रता फैलाती है—एक बुहारी की भाँति, जो स्वयं गन्दा होकर स्वच्छता बढाता है।"

"वह वेश्या, पवित्र हो जाने की आशा में जब कि एक पुरुष का

हाथ पकडना चाहती है तो उसे अस्वीकृत कर देना तुम्हारी कायरता है या अत्याचार, क्या है लछम ?"

परुली की ताडना से लछमियाँ सजीव हो उठा। बोला—"लछमियाँ नहीं है कायर, अत्याचारी भी वह नही।"

"तो फिर मुझे शुद्ध करो।"

"आर्य-समाज में ले जाकर ?"

"जैसे भी चाहो। मतलब विवाह करने से है।"

"विवाह करूँगा," लछमियाँ ने परुली का हाथ पकड़कर उसे आश्वासन दिया।

शाम को झूमते-झूमते बाइसिकल में लाल बाबू आ पहुँचे। दीपक प्रज्ज्वलित हो उठे थे। दूकान मे लछमियाँ का मुनीम हिसाब-किताब की जाँच मिला रहा था और नौकर दूकान के द्वार बन्द कर देने के लिए बाहर के बोरे उठा-उठाकर भीतर रख रहा था।

लाल बाबू ने तीन बार बाइसिकल मे घंटी देकर अपने हस्ताक्षर बजाए। लछमियाँ के पास से कोई उत्तर नहीं मिला।

फिर इसी की आवृत्ति की उन्होंने। फिर कोई जवाब न मिला। उन्होने मुनीम से पूछा—"कहाँ है ?"

"दफ्तर में होगे ऊपर।"

मकान के दो-तले का नीचे की दूकान से कोई सम्बन्ध न था। वहाँ जाने के लिए बाहर-ही-बाहर मार्ग बना था। हाँ, तीसरे तले पर जाने का मार्ग दो-तले के भीतर से होकर ही जाता था।

"बाइसिकल देखते रहना," कहकर लाल बाबू दफ्तर की ओर चढ़े। दफ्तर भीतर से बन्द था। जोर-जोर से खटखटाया उन्होंने उसे—"लछम ! लछम !"

ऊपर के तले में परुली कह रही थी—"नहीं, कोई उत्तर न दो, एक-दो बार पुकारकर चला जायगा।"

"बात कर लेने में क्या हानि है ? तुम्हारे पास नहीं आने दूँगा। वहीं से टाल देता हूँ।"

"लछ्मन ! लछ्मन ! निकलता क्यो नहीं !"

हाथ मे टेबुल लैंप लिये लछमियाँ उतरता दिखाई पडा दफ्तर की सीढियो पर।

लाल बाबू बोले—"क्या अभी से घर के भीतर घुस बैठे हो ? संध्या हो गई और दफ्तर मे एक बत्ती भी नही जला सकते तुम ? इतने कंजूस हो गए हो ? ज्यो-ज्यो मोटे होते जा रहे हो, त्यो-त्यो कौडी के पूत बनते जा रहे हो। क्या हो गया तुम्हे ?"

लछमियाँ ने मेज पर लैंप रखकर द्वार खोला—"जी अच्छा नहीं है।" उसने बिना मित्र को कुर्सी पर बैठ जाने का संकेत दिये मार्ग के बीच मे खडे होकर कहा।

"किसका जी अच्छा नहीं है, तुम्हारा या उसका ?"

"दोनो का।"

"चलो फिर, थोडी देर बातचीत करेंगे, बहल जायगा, ठीक हो जायगा जी। बडा बढिया समाचार सुनाने आया हूँ। चलो ऊपर।"

"ऊपर नहीं। उनकी आज्ञा नही है।"

"क्यो नही है ? मैं गाना सुनूँगा।"

"नहीं है। जनता के बीच मे गाना छोड़ दिया जब उन्होने, फिर तुम्हारी हठ व्यर्थ है।"

"गाती तो हैं लेकिन, हम दूर से ही सुन लेंगे।"

"गाती हैं केवल अपने अभ्यास के लिए—कला कला के लिए।"

"तुम तब कानो मे उँगलियाँ कोच लेते हो क्या ?" लाल बाबू लड़खडाकर एक कुर्सी खींचकर बैठ गए और दूसरी पर लछमियाँ का हाथ पकड़ उसे बैठा दिया—"लेकिन दोस्त, तुम्हे अकेले-ही-अकेले उसका गाना सुनने का कोई अधिकार नहीं है। मेरी उससे तुमसे पहले की जान-पहचान है।"

"तुम होश में नहीं हो दोस्त, तुम्हे ऐसी हालत में घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए था।"

"घर से बाहर कहाँ हूँ? देखता नही, चारो ओर दीवारें है और ऊपर छत मे वह परी विराजमान है।"

"लेकिन वह मेरी हो चुकी।"

"मैं तुझसे ज्यादा रुपया उसे दे दूँगा।"

"प्रेम धन से नही खरीदा जा सकता। वह तो इसी से मोल लिया जाता है।"

"मोल-तोल की जब बात है तो चल उसके सामने, मैं भी अपनी बोली बोलूँगा। बिना मेरी बात सुने वह तुम्हारी हो कैसे सकती है। जो कुछ तुमने उसके लिए किया है, उससे अधिक मै कर सकता हूँ।"

"तुम नहीं कर सकते।"

"क्यो नही कर सकता?"

"क्योंकि समाज के डर से तुम चोरी-छिपे उसका गीत सुनने आते हो।"

"और तुम?"

"मैंने समाज की नाक मे छेद करके उसमे रस्सी पहनाई है। पाखंड के रास्ते से हटाकर मै उसे सही रास्ते पर ले जाऊँगा। तुम नही रख सकते परी को इस तरह। तुम उसे पतित बनाने में सहायक हुए हो।"

"क्यो हुआ हूँ? तुमने कौन उसकी प्रतिष्ठा बढा दी? चलो ऊपर!"

"नही लाल बाबू। जोश मे मत आओ। मै नहीं जाने दूँगा तुम्हें उसके पास। इसी से उसकी प्रतिष्ठा बढती है।"

"मै ज़रूर जाऊँगा। ठीक है उसकी तबीयत, अभी वह तीसरे पहर गा रही थी।"

"अरे जाओ, जाओ, अपने घर जाओ। तुम्हारी विवाहिता पत्नी

तुम्हारी राह देख रही होगी। तुम नहीं कर सकते परी से प्रेम। केवल मै ही कर सकता हूँ।"

"केवल तू ही कैसे कर सकता है?"

"क्योकि मै उससे विवाह कर सकता हूँ। तुम कर सकते हो क्या?"

लाल बाबू बोले—"वेश्या से विवाह कौन कर सकता है?"

"उसके लिए साहस चाहिए। मै कर सकता हूँ। लाल बाबू, यहीं पर तुमने सबसे बडी हार खाई। जाओ, लौट जाओ अपने घर, कहो तो मैं नौकर भेजकर पहुँचा दूँ। अब इधर आने का उत्साह न करना।"

"लेकिन मित्र, बंबई से एक फिल्म-डायरेक्टर न आए है यहाँ हिरोइन की तलाश में। मै कहता हूँ अगर वह एक बार परी को देख ले, उसका गाना सुन लें तो लट्टू हो जायं। कहते तो हैं वह अगर उनके मन की एक्ट्रेस कोई मिल जाय तो मालिक की ओर से दस हजार रुपये पेशगो दे देने तक का उन्हें अधिकार है, नकद अभी यहीं।"

"क्या समझ रखा है मुझे तुमने लाल बाबू, मैं फल-फूल का ठेकेदार हूँ। औरतो का व्यापारी समझ रक्खा है क्या तुमने मुझे?" लछमियाँ ने डाटकर कहा।

लाल बाबू कुछ नम्रता से बोले—"तुम परी को सिनेमा-कंपनी मे ले जाने की बात करते थे, इसी से कहने आया था, यह सुनहरी अवसर छोड देने का नहीं है। ठीक सिनेमा-कंपनी तक बिना टिकट और बिना रास्ता पूछे पहुँच जाओगे। कोई धोखा-धडी नहीं, पेशगी यहीं मिल जायगा।"

लछमियाँ सोचने लगा—"यह कौन होते है, परी को सिनेमा-कंपनी मे ले जाने वाले? मै स्वयं ले जाऊँगा।" वह बोला—"नहीं मित्र, लछमियाँ किसी धोखे मे पडने वाला मनुष्य नही है। वह सिनेमा-कंपनी मे जायगा तो स्वयं अपने बल और परी की कला की सहायता से।"

लछमियाँ ने साहस से लाल बाबू को निराश करके उन्हे घर लौट

जाने पर विवश किया और वह द्वार बंद कर परुली के पास जा पहुँचा। उसने इतनी देर मे परुली के साथ शीघ्र-से-शीघ्र दृढ निश्चय कर लिया। वह सोचने लगा—"यह डायरेक्टर या कोई दूसरे, हजारो रुपयो के फेर में डालकर निश्चय परुली को मुझसे छीन लेंगे। मेरा उसे विवाह के बंधन से बाँध लेना क्या सबसे सुगम उपाय नहीं है?"

लछमियाँ दृढ निश्चय के साथ बोला—"परी, हमारा-तुम्हारा विवाह शीघ्र-से-शीघ्र हो जाना चाहिए। तभी समय-असमय हमारे द्वार खट-खटाने वाले इन लोफरो से हमें छुट्टी मिल सकेगी।"

लछमियाँ समझता था, असाधारण हर्ष से परुली उसके प्रस्ताव का स्वागत करेगी, परन्तु उसने उस बात को टाल दिया। लाल बाबू की बातो को पूरा-पूरा सुनकर भी उसने पूछा—"क्या कह रहे थे?"

"कुछ नही। मुँह से दुर्गंध आ रही थी। बहके हुए थे। बक रहे थे न जाने क्या-क्या?"

"सिनेमा का डायरेक्टर कौन आया हुआ है, कहते थे?"

"भली चलाई, बकता था। सारे नगर के समाचार तो मुझे ज्ञात रहते है। यह आया था मुझे चलाने! हूँ!

"एक दिन डायरेक्टर को बुला लाओ यहाँ। बातें कर लेने में हानि क्या है?"

"आया होगा, तो मैं कर लूँगा उससे बातें। मुझे स्वयं इसकी चिंता है। सबसे पहले हमे विवाह का निश्चय करना है। ताकि अकेली पाकर तुम्हे कोई ठग न ले।"

"यह तो काला महीना है। इसमें विवाह कैसे हो सकता है।"

"होम-यज्ञ से जब तुम्हारी शुद्धि हो सकती है, तो पुरोहितों को कुछ दे-दिलाकर काले महीने को भी उजला कर देंगे।"

लेकिन परुली राजी न हुई, लछमियाँ सोचने लगा—"यह क्यों अपने विचार मे बदल गई इतनी शीघ्र!"

विवाह के बदले, परुली के मन में सिनेमा कंपनी मे पदार्पण करने

की उत्सुकता बढ गई और उस डा[illegible] के भय से लछमियाँ को तुरन्त ही परुली को लेकर बंबई को पस्थित हो जाना पडा।

बंबई के एक अच्छे होटल मे उन्होने एक कमरा लिया। लछमियाँ प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए पर्याप्त धन लेकर चला था, परुली भी।

होटल मे पहुँचते ही लछमियाँ ने कहा—"विवाह यद्यपि हमारा नही हुआ है, तथापि हमे पति-पत्नी के ही रूप मे अपना परिचय देना होगा।"

"परुली सोच-विचार मे पड गई!"

"हम बढते-बढते इस कनक नगरी मे आ गए परी! यदि हमने प्रलोभनो मे पडकर पुरानी मित्रता भुला दी तो बस!"

परुली ने कहा—"लछम! एक्ट्रेस अपने रूप से आगे बढती है, अपने नाम से भी तो? उसके नाम मे मोहिनी होनी चाहिए।"

"श्रीमती लछमा— क्या बुरा नाम है?"

नाक-भौं सिकोड कर परुली बोली—"इसमें मेरा नाम आना चाहिए न, पार्ट तो मै करूँगी, फिर यह नाम न तो अक्षरो मे अच्छा दिखाई दे रहा है न कानो मे ही मीठा है।"

"तो श्रीमती परी सही!"

"ऊँहूँ, श्रीमती—बोलने में अधिक परिश्रम माँगता है—फिर कोई आकर्षण भी नहीं इसमे।"

"फिर क्या चाहती हो तुम?"

"कुमारी परी—सीधा और सरल, कुमारी परी। सिनेमा की नटी कुमारी ही होती है। तुम नही कहते थे एक दिन, कलाएँ विवाह के बधन से बहुत ऊँचे पर उड़ा करती है। जब हमारा आपस मे प्रेम है तो लछम, मै कुमारी परी के नाम से ही आगे बढूँगी और मेरा आगे बढना तुम्हारो ही प्रगति है।"

"कुमारी परी!" लछमियाँ ने विचारा—"सचमुच एक आकर्षण भरे व्यक्तित्व का आकर्षक नाम है!"

की उत्सुकता बढ़ गई और उस डायरेक्टर के भय से लछमियाँ को तुरन्त ही परुली को लेकर बंबई को प्रस्थित हो जाना पड़ा।

बंबई के एक अच्छे होटल में उन्होंने एक कमरा लिया। लछमियाँ प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए पर्याप्त धन लेकर चला था, परुली भी।

होटल में पहुँचते ही लछमियाँ ने कहा—"विवाह यद्यपि हमारा नहीं हुआ है, तथापि हमें पति-पत्नी के ही रूप में अपना परिचय देना होगा।"

"परुली सोच-विचार में पड़ गई!"

"हम बढ़ते-बढ़ते इस कनक नगरी में आ गए परी! यदि हमने प्रलोभनों में पड़कर पुरानी मित्रता भुला दी तो बस!"

परुली ने कहा—"लछम! एक्ट्रेस अपने रूप से आगे बढ़ती है, अपने नाम से भी तो? उसके नाम में मोहिनी होनी चाहिए।"

"श्रीमती लछमा— क्या बुरा नाम है?"

नाक-भौं सिकोड़ कर परुली बोली—"इसमें मेरा नाम आना चाहिए न, पार्ट तो मैं करूँगी, फिर यह नाम न तो अक्षरों में अच्छा दिखाई दे रहा है न कानों में ही मीठा है।"

"तो श्रीमती परी सही!"

"ऊँहूँ, श्रीमती—बोलने में अधिक परिश्रम माँगता है—फिर कोई आकर्षण भी नहीं इसमें।"

"फिर क्या चाहती हो तुम?"

"कुमारी परी—सीधा और सरल, कुमारी परी। सिनेमा की नटी कुमारी ही होती है। तुम नहीं कहते थे एक दिन, कलाएँ विवाह के बंधन से बहुत ऊँचे पर उड़ा करती हैं। जब हमारा आपस में प्रेम है तो लछम, मैं कुमारी परी के नाम से ही आगे बढ़ूँगी और मेरा आगे बढ़ना तुम्हारी ही प्रगति है।"

"कुमारी परी!" लछमियाँ ने विचारा—"सचमुच एक आकर्षण भरे व्यक्तित्व का आकर्षक नाम है!"

बारह

. . . . . .

खेती छोड देने पर पंडितजी को ऐसा भान हुआ, मानो उनकी एक बहुत बडी विवशता तिरोहित हो गई ! रोटी की आवश्यकता मनुष्य की सबसे बडी आवश्यकता है, उसके बन्धन से मुक्त हो जाने पर पंडितजी ने एक अद्भुत स्वतन्त्रता की साँस ली ।

"भूख—कदाचित् हमारे शरीर के भीतर की कोई इतनी बडी आवश्यकता न थी आरम्भ में—न उसकी पूर्ति के साधन ही बाहर धरती पर इतने दुष्प्राप्य थे ।" पंडितजी कहते—"हमने भूख के ऊपर स्वाद नाम की एक कृत्रिमता चमकाई और धरती पर हल चलाकर एक झूठे परिश्रम को उत्पन्न किया । संघर्ष बढने लगा । भूमि पर अधिकार नाम की एक वस्तु चल पडी । मनुष्य की पाशविक शक्ति उसकी सहायक होकर बढ चली और उस पाशविकता को रंग दिया शस्त्रास्त्रों के उपयोग ने ।"

"धरती पर अपने-आप उपजे हुए फूल-फलों की उपेक्षा की उसने । उसने श्रम या कर्म नाम की एक वस्तु की रचना की और खेत में बीज बोकर उसने अपने लिए दो मूर्खताएं उपजाईं !—वह आकाश के बादलों को देख-देखकर भाग्यवादी बना और वह खेती पर की बालों को निहारकर फलाकांक्षी बना ! उसके मन में अशान्ति-पर-अशान्ति बढने लगी ! आवश्यकता-पर-आवश्यकता की बढती होती गई ।"

"आवश्यकता नाम की कोई वस्तु नही है। मनुष्य ज्यो-ज्यों उन्हे कम करता जायगा त्यो-त्यों प्रकृति माता के निकट आता जायगा, त्यो-त्यों उसके मन की चिता और तन का रोग अपहृत होता जायगा। प्रकृति की ओर बढना ही हमारा प्रकृत बढना है। प्रकृति ही देवत्व है। हम देवत्व से ही बिछुडे हुए कण है। आवश्यकता का दूसरा नाम ही वासना या कामना है, वही देवत्व और हमारे बीच की दूरी है।"

"अभाव! और ये रात-दिन के नाना उपकरणों के अभाव! मँहगी! —यह विश्व-व्याप्त मंहगाई! क्या हमारी आवश्यकता—नितांत आवश्यकता ही इस यमज सन्तान की प्रसूता नही है? चाय को ही लीजिए, उसके बढते हुए उपयोग ने अपना मूल्य और अपनी प्रतिष्ठा नहीं बढा ली है क्या? साथ ही चीनी को भी मँहगा नहीं कर दिया? यह कितनी दयनीयता है मनुष्य के जन्म की। वह अपने स्वरूप को भूल गया। प्रातःकाल उठते ही जब तक उसे चाय की घूँट नही मिल जाती वह सूर्योदय के जन्म का विश्वास ही नहीं करता!"

चाय छोडे हुए पंडितजी को कई वर्ष हो गए, दूध का स्वाद चखे भी और अब वह रोटी से मोर्चा लेने को सन्नद्ध हो गए। उन्हे अपनी विजय का पूरा-पूरा भरोसा हो गया। ऐसा जान पड़ने लगा मानो एक बेगार छूट जायगी, सिर का एक वृथा भार अपने-आप भूमि पर पड़ेगा।

अपने बोये हुए दो-चार खेतो पर देखकर जो सान्त्वना और सहारा पंडितजी अनुभव करते थे, आज वह प्रकृति के एक-एक पत्ते से उन्हें मिलने लगा। प्रकृति माता मानो अपने दोनों हाथ फैला ललकती हुई उनसे कह रही थी—"वत्स, मै तेरी सारी चिताओ का हरण कर लूँगी, तेरे सारे क्षोभ शेष हो जायगे। तेरा भोजन तेरी साँस के ही तुल्य तेरे लिए सहज और सुलभ हो जायगा। इस बार अब तू श्रम मे नहीं आत्मा मे प्रतिष्ठित हो जायगा।"

प्रकृति के मातृत्व से अनुप्राणित पंडितजी पुलकित हो उठे। ग्राम के लिए नगर छोड दिया और प्रकृति के लिए खेती छोड दी—शुद्ध

एकांत की ओर उन्हे मार्ग दृष्टिगोचर हुआ, आवश्यकताओ के कम होने से उनका श्रम भी सीमित हो जायगा। बेट लगाकर जिस धातु के स्पर्श से वह कुण्ठित होते थे वह बिलकुल छूट जायगा। अग्नि के त्याग से तवे से विदा ले ली थी, संग्रह के त्याग से बर्तनो से और अब खेतो के त्याग से कुदाल भी अछूतो मे परिगणित हो गया।

"प्रकृति माता की जय!" पंडितजी पुकार उठे उनके समस्त ग्राम के बन्धन छिन्न-भिन्न होकर गिर पडे। उनकी विदा का दिन निकट आ गया। वह चाचाजी के पास पहुँचे।

"बेटा, श्रम ही तो जीवन है। उसका त्याग कैसे कर सकोगे तुम? क्या वह त्याग तुम्हारा जडत्व न हो जायगा?"

"मै विचार करूँगा चाचाजी, विचार—केवल विचार! विचार शक्ति है—जडता नही।"

"किसका विचार करोगे?"

"उस महाशक्ति का जिसने अपने को विचार से भी ऊपर छिपा लिया है।"

"खाओगे क्या?"

"घास-पात, कंद मूल, ऋषि-मुनि क्या खाते थे?"

"घास-पात का खाना तो पशुता है।"

"पशुता है दाने का संघर्ष, पशुता है सिक्के की कल्पना में दानों का संग्रह, पशुता है अधिकार के टुकड़ों मे धरती का विभाजन! पशुता है लोहे के पहिए के नीचे मनुष्य के हाथ-पैर कुचलकर उसे पंगु कर देना!"

"तुमने तो पहिया क्या कुदाल को भी त्याज्य कर दिया। कंद-मूल खोदने के लिए किसका उपयोग करोगे?"

"पत्थरो का।"

"तब तुम धातु के युग से प्रस्तर युग की ओर जा रहे हो। और तुम इसे पीछे हटने के बदले आगे बढ़ने का नाम क्यो देते हो?"

"कलियुग से द्वापर, फिर त्रेता और फिर सतयुग। क्या यह आपका पौराणिक काल-मान एक-दूसरे से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ नहीं है? फिर श्रेष्ठता की ओर जाना ही बढना क्यों नही है?"

चाचाजी निरुत्तर हो गए।

पंडितजी हँसकर बोले—"चाचाजी आपको मुझसे अधिक पौराणिक होना चाहिए था, हो गया हूँ मै। मैं इस चतुर्युगी कल्पना को मनोविज्ञान सिद्ध सत्य मानने लगा हूँ। आवश्यकताओं का जाल ही इस युग की घोर तामसिकता है। आपसी राग-द्वेष, फूट कलह, मँहगी-अभाव, युद्ध-संघर्ष, छीना-झपटी, दलन-पोषण, संहार-अपहरण—ये सब इस कलियुग के पाप हैं। इस कलुष का ही नाम सभ्यता रक्खा गया है। द्वापर और त्रेता में कदाचित् सभ्यता कुछ पिछडी थी, भाप, बिजली की शक्ति अज्ञात थी—कलियुग की कालिमा उस समय रजोगुण की लालिमा थी और उस आदि युग सत्ययुग में मनुष्य प्रकृति के सन्निकट था। उसके अग पर वस्त्राभूषण न थे, तो वह अधिक सुन्दर था, प्रकृति का वरद हस्त उसके ऊपर था। उसके खेती और मशीनें नहीं थीं, तो वह लालसा विहीन था, शान्ति और सत्य उसके सहचर थे। मैं कहता हूँ वह सतयुग की प्राकृतिकना मनुष्य के ध्येय की सबसे बडी उज्ज्वलता थी। सत्य-अहिंसा के लिए कोई प्रयास ही नहीं करना पडता था, वह स्वभावसिद्ध थी, उसके लिए न भाषण देना पडता था, न व्रत ही लेना पड़ता था—वह साँस मे मिली-जुली थी।"

चाचाजी ने मनोयोग से सुनने के अनन्तर कहा—"पर महाकाल आगे को बढ रहा है, उसकी गति से टूटकर हमारा पीछे को चला जाना क्या अस्वाभाविकता नहीं है?"

"काल तो चक्कर में है चाचाजी! कलियुग के पश्चात् फिर सतयुग की बारी आ जाती है।"

"आयगी, जब आयगी, अभी तो कलियुग का पहला ही चरण है।"

"काल का हमारी मानसिकता के साथ निकट सम्बन्ध है। मनुष्य अपने मनोबल से सतयुग के भीतर जब चाहे प्रवेश कर सकते है। आवश्यकताओ के कारागार से छूटने पर उसके मन की कामना घुल जायगी। वह निष्पाप हो जायगा। भीतर निष्पाप होते ही कलियुग की घोर कालिमा मे भी उसका जगत सतयुग मे होगा।"

"दुनिया नहीं जा सकती तुम्हारे साथ।"

"एक सत्य आपसे निवेदन किया, मुझे इसके प्रचार का कोई मोह नहीं है। मैं अपने विचार के अनुगमन का अकेला यात्री हूँ, मै अकेला ही वहाँ जाऊँगा चाचाजी!"

"तुम कहाँ जाओगे?"

सौभाग्य से आज बादल बैठ गया है। हिमालय की पूरी श्रेणी को पाकर संध्या चमक उठी है। वह देखिए, त्रिशूल की ऊँची चोटी की स्पर्धा करता हुआ वह दुर्गा-मंदिर का शिखर मुझे बुला रहा है।"

"दुर्गा-मंदिर ही क्यों फिर? तुम्हें प्रकृति की उपासना करनी है, प्रकृति क्या सर्वत्र नहीं है? नगर के घोर कोलाहल और प्रतियोगिता के बीच में भी एक प्राकृतिकता क्यो नहीं है?"

"त्याग की जिस सीमा पर मैं पहुँच चुका हूँ, वह मुझे उस शिखर पर ले जाना चाहता है। मैं खेती का सहारा छोड चुका हूँ, वहाँ खेती नही होती।"

"घास-पात क्या यहाँ नहीं होते?"

"संसर्ग का दोष जो लग जायगा?"

"तुम छूत-छात कभी नहीं मानते थे?"

"अब मानने लगा हूँ।"

चाचाजी ने चकित होकर पूछा—"अब मानने लगे हो? तुम तो कहते थे मनुष्य की छूत मानवता का सबसे बडा कलंक है।"

"बात ऐसी है मनुष्य के रहन-सहन से उसके विचार बनते है। विचारों से बनता है उसका भाव। जगत विरोधी भावो से बसा हुआ

है। भावों का वैषम्य ही हमारे विचार, भाषा, रहन-सहन और संस्कृति की भिन्नता है। सम भाव की संगति लाभदायक है और विषम भाव की संगति से हमारी प्रगति मे बाधा पहुँचती है।"

"मै भी तो पहले ऐसा ही कहता था।"

"छूत का अर्थ मनुष्य की घृणा तो अब भी मैं नहीं मानता हूँ। हाँ उसके कुभाव से अवश्य बचना चाहता हूँ।"

"दुर्गा के मंदिर की कौन आवश्यकता पडी फिर ?"

"सुर और असुर के बीच का भेद जागने पर फिर दुर्गा की ही शरण मे जाना पडता है। आज अच्छा दिन है, आज ही जाऊँगा।"

"कितने दिन रहोगे ?"

"कुछ ठीक नहीं कह सकता।"

"नगर मे जाकर माता-पिता से भी तो पूछ लो।'

"उनकी सम्मति से ही यहाँ आया था। दुर्गा-मंदिर का पथ यहाँ से आगे है। बीच ही में लौटकर फिर वहाँ कहाँ जाऊँ। आपकी आज्ञा ले ही रहा हूँ। अच्छे काम में उत्साह बढाना चाहिए आपको। प्रकृति का विरोध अवश्य भयकारी है, उसका विश्वास और उसके अनुसरण मे कोई भय नहीं है। वह सदैव ही मंगलकारी है।"

"परन्तु तुम्हारा लक्ष्य क्या है ?"

"मनुष्य-जन्म के शुद्ध उद्देश्य की प्राप्ति।"

"अर्थ नहीं खुला कुछ भी। कदाचित् तुम सिद्धियो के फेर मे पड़ गए हो।"

"नही, चाचाजी !"

"सिद्धियाँ, मनुष्य के मार्ग की बाधाएं हैं। उनसे हमें सचेत रहना चाहिए। मनुष्य समाज का ही अंग है। समाज मे रहकर ही तुम क्यों गीता के मानव-धर्म का अनुसरण नही करते। इस लोक और परलोक दोनो की मुक्ति का मार्ग उसमे खुला हुआ नहीं है क्या ?"

"गीता कर्मयोग का प्रदीप है। मै कर्मों को छोड़ चला।"

"जा कहाँ सकते हो ?"

"तर्क से ऊपर जा रहा हूँ ? इसी से नहीं कह सकता किधर जा रहा हूँ। लक्ष्य क्या है, उद्देश्य क्या है ? इसका विवेचन नही कर-सकता।"

"सप्तशती की आवृत्तियाँ करोगे क्या वहाँ ?"

"सब-कुछ छोड देने पर फिर कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती।"

"तुम्हारे मस्तिष्क मे कोई विकृति न हो जाय, यही भय है मुझे।"

"मै किसी फल मे आसक्त नहीं हूँ। मन में जब कोई विकार नहीं है, तो मस्तिष्क मे ही क्यो फिर वह होगा ?"

"अभी जल्दी क्या है। कुछ दिन तो यहाँ रहो, जैसे तुम चाहते हो ऐसे ही रहो। तुम्हारे मार्ग में हम किसी प्रकार विघ्न न डालेंगे।"

परन्तु पंडितजी किसी प्रकार न माने। और उसी समय जाने को तैयार हो गए।

"कंबल और कुछ कपडे तो रख ले जाओ। एक लोटा भी तो।"

"यह सब प्रकृति माता का अविश्वास सिखाते है।"

"इस प्राकृतिकता मे बहुत दिन तक रह चुके हो।"

"जो वस्त्र अंग मे हैं, उन्हे तो ले ही जा रहा हूँ। और अधिक भार कुछ भी न बढाऊँगा। लोटा नही ले जाऊँगा। मैं प्रस्तर-युग की ओर जा रहा हूँ।"

"तुम्हारे ही हाथ की कती हुई पंखी है यह। इसे कंधे पर रख लेने से कोई भार नही बढ़ेगा तुम्हारा।" कहकर चाचाजी ने पंखी उन्हें दी।

उस आग्रह को शिरोधार्य कर पंडितजी चाचा और चाची से विदा लेकर दुर्गा-मंदिर के पथ मे प्रस्थित हो गए।

पूरे एक दिन का मार्ग था दुर्गा-मंदिर का वहाँ से। नौ हजार फीट की ऊँचाई पर वह मंदिर सुशोभित था। आसपास कोई ग्राम नहीं थे। घने वन के बीच में नाना प्रकार की वनस्पतियों और जल

के स्वच्छ सुशीतल झरनो से परिपूर्ण था वह स्थान। उत्तर में संध्या और प्रभात के रंगो में नाना प्रकार की शोभा धारण करने वाली धवल हिमालय की श्रेणियाँ थीं, पूर्व से पश्चिम तक अपनी उच्चता को सँभाले हुए। शेष दिशाओ में दूर-दूर तक छोटे-छोटे पहाड़ों के मनोरम दृश्य थे। कहीं घाटियाँ, कहीं वन, कही चमकती हुई नदियों की रेखाएं, कहीं हरे और पीले बिछे हुए खेत, छोटे-छोटे ग्रामों के मंडल।

पंडितजी ने वह मन्दिर इससे पहले कभी नहीं देखा था। कृत्रिमता, आवश्यकता, अभाव और कामना से बहुत ऊपर प्रकृति के उस शुद्ध अविश्वास को देखकर वह सोचने लगे—"यही तो मेरी परिकल्पित भूमि थी, इतने दिन तक मैं क्यों नहीं आ सका यहाँ ?"

तीन ओर से तीन दीवालें थीं उस मन्दिर की। स्थापत्य का कोई आकर्षण नहीं। पंडितजी कहने लगे—"स्थापत्य मनुष्य की कारीगरी होने से एक कृत्रिमता है। कला श्रीमान् का दंभ है और कलाकार का मोह। दुर्गा का यह मन्दिर इन दोनो की छाया से विमुक्त है। उसे ऐसा होना ही उचित था। प्रकृति को कोई सजा-सँवार नहीं सकता।"

मन्दिर की दीवारो पर कोई छत नहीं थी। मुक्त प्रकृति का आकाश ही उसकी छत थी। पंडितजी यह देखकर विचारने लगे—"सर्वशक्तिमयी देवी के खिलवाड़ ही तो हैं ये वर्षा-आतप, ओले और हिम! उसकी लीला से उसकी रक्षा का विचार मूर्खता नहीं तो क्या है। फिर ये दीवालें ?" पंडितजी कुछ क्षण सोचकर बोले—"यह साधक के विचार को बाह्य-जगत मे भटक जाने से रोकते होगे।"

मन्दिर मे न कोई द्वार था, न शृङ्खल। भीतर बाहर के साथ जुड़ा हुआ एक रूप! प्रकृति ही देवी है, देवी ही प्रकृति। जिसके मन मे विश्वास उपज जाय, उसके लिए सहज प्रवेश। न कोई प्रतिबन्धक, न कोई प्रतिबन्ध!

मन्दिर के भीतर अपने स्वाभाविक रूप में स्थित एक पत्थर था।

मूर्तिकार की छेनी से अछूता, किसी की अनुरूपता अंकित नही की गई थी उसमे। साधक के मन की भावना अपनी कल्पना के अनुकूल चाहे जैसा रूप देख ले उसमें। प्रतिमा की इस स्वाभाविकता ने पडितजी को आकृष्ट किया।

मन्दिर के पुजारी ने पंडितजी से कहा—"बडी देर मे आए तुम। ऐसे असमय में कोई भी नहीं आता यहाँ। दिन डूबना चाहता है अब।"

"क्या चिन्ता है। कल फिर सूर्योदय हो जायगा।"

पुजारी ने अकचकाकर पंडितजी के मुख की ओर देखा—"इस शिखर पर रात मे कोई भी नहीं रहता।"

"क्यो नहीं रहता ? क्या तुम्हारी ऐसी आज्ञा नही है ?"

"मेरी क्या आज्ञा ? जगन्माता का मन्दिर है यह। चाहे जो रहे। पर जाडा बहुत है, हिमाचल की हिमसिक्त पवन बहती है रात को। शून्य एकान्त है, डरते है लोग।"

"माता के निकट भय कैसा ?"

"सिह आता है यहाँ रात को।"

"माता का वाहन है सिह ! उससे कैसे भय ?"

"तुम अद्भुत मनुष्य दिखाई दे रहे हो जी ! जल्दी से कुछ पूजा-पाठ करना हो तो मै करा देता हूँ तुम्हें। फिर मुझे भी अपने गाँव को लौट जाना है।"

"तुम नहीं रहते यहाँ ?"

"नही, मैं नित्य घर चला जाता हूँ। मैं तुम्हे भी लौट जाने की सलाह देता हूँ। फूल चढा आरती कर लो माता की। पाठ करना हो तो वरण दे दो मुझे, कल को अष्टमी है, कर दूँगा पाठ।"

"मेरी पूजा मे तो बडी देर लगेगी।"

"घंटा, आधा घंटा ?"

"नही जी।"

"पखवारा, महीना तब क्या ?"

"मै यहीं रहने को आया हूँ पुजारी जी !"

"किस बल पर रहोगे तुम यहाँ ? साथ मे कोई और भी आ रहे है क्या ?"

"नहीं, एक पक्षी भी नहीं ।"

"कंधे पर केवल एक पंखी ही बस ? और कुछ सामान नहीं । तुम्हें डर नहीं लगता, तो क्या भूख भी नहीं सतायगी—जाडा भी नहीं व्यापेगा ?"

"ये सब एक ही चीज के तीन नाम है ।"

पुजारीजी ने सिर से पैर तक पंडितजी को पढा ।

पंडितजी बोले—"रात को कोई नहीं रहता यहाँ ?"

"नहीं कोई नहीं रहता ।"

"ये धर्मशालाएं किसलिए हैं ?"

"नवरात्रो में लोग यहाँ पूजा-अर्चना करने सदल-बल आते है, वहीं रहते है ।"

"पुजारीजी, नव का गणित भूलकर यदि हम उस शब्द मे काल का अर्थ लगा लें, तो क्या नित्य ही नवरात्र नही है ?" मैं तो यहीं रहने के लिए आया हूँ । उस धर्मशाला मे धुँवा आ रहा है । कोई रहता है वहाँ ? कौन ?"

"अरे उसकी न पूछो एक पागल है—गूँगा ।"

"रात मे यहीं रहता है वह ?"

"हाँ ।"

"कौन है ?"

"एक तुम्हारे ही-सी हठ वाला और कौन ? एक इतिहास होगा उसके पीछे । अधिक नहीं जानता मैं । सच-सच नहीं बताया उसने किसी को भी कि वह कहाँ का रहने वाला है । हमें नहीं ज्ञात, उसके घर पर भी कोई है या नही । तीन साल हुए कार्तिक की नवरात्रियो मे

प्रतिपदा को ही आ गया था यह यहाँ, पुरश्चरण के लिए। नवरात्रियों-भर इसने व्रत किया, चाय-दूध की कौन कहे, पानी का छींटा भी जीभ पर नहीं रक्खा। ऐसे ही तुम्हारे-जैसा—कंधे पर एक कम्बल—न पैर में जूता, न सिर पर टोपी। काँख मे एक दुर्गा सप्तशती की पुस्तक अवश्य थी इसके, अब भी है। नवरात्रियों-भर उसी का पाठ करता रहा दिन-भर, कोई-कोई कहता था रात-भर भी बैठा जप और ध्यान करता रहता था। विजयादशमी के दिन व्रतोद्यापन से पहले ही उसका कंठ-स्वर उड गया और वह गूँगा हो गया! कहाँ की पूजा, कहाँ की आरती? सारा जन-समूह इसी का कौतुक देखने लगा। पूरी शक्ति लगाकर यह मुख मे उच्चारण उपजाना चाहता, नहीं उपजा। कभी ताली बजाता, कभी नाचता, दौडता-कूदता। कभी हँसता और कभी धाड मार-मारकर रोता। सभी कहने लगे क्रिया बिगड गई इसकी। तुम्हें भी इसके उदाहरण से कुछ सीख लेनी चाहिए।"

"मैं क्या सीख लूँ? मै कोई भी पार्थिव कामना लेकर नहीं आया हूँ पुजारीजी!"

"फिर आने का मतलब? मन कामना से विहीन होता है कहीं?"

"विश्वास हो तो हो कैसे नहीं सकता? पूजा, पूजा के लिए? पूजा ही साधना और पूजा ही सिद्धि! साधना और सिद्धि दोनों का एकीकरण कर देने से फल मूल में ही समा जाता है पुजारीजी! सर्प के मुख उसी की पूँछ! अहंकार को दलित कर जब तक माता के चरणों मे असहाय शिशु-सा लोटता रहूँगा, मुझे कोई भय नहीं।"

"हूँ, तुम्हे कोई भय नहीं!" पुजारी ने पंडितजी के साहस को देखकर कहा—"घर कहाँ है तुम्हारा?"

"नगर और ग्राम दोनों से दूर।"

"पास-पडोस के किसी गाँव में इष्ट-मित्रता, जान-पहचान नहीं है, तो चलो मेरे गाँव मे चलो। कल समय से आकर पूजा-पाठ कर लेना। दो रोटी आज वहीं खाकर रात काट लेना।"

"रोटी नही खाता मै। शाकाहारी हूँ। परन्तु पुजारीजी, रात के दुर्भेद्य अंधकार ही मे तो माता चमकती है, उसका भय मानकर भाग जाऊँ ? नहीं, मैं तो यहीं रहने को आया हूँ।"

"चलो, फिर एक से दो हो गए तुम। एक-एक का सहारा। मुझे तो देर हो रही है। जो कुछ कहना था कह दिया। आगे तुम जानो तुम्हारा काम जाने।" पुजारीजी ने मंदिर का दीप जलाया, आरती की। कर्त्तव्य शेष कर कुछ पोटलियाँ कंधे पर रखते हुए कहा—"दो-चार आलू हैं मेरी पोटली मे, पगले ने धूनी जला रक्खी है। भूनकर खा लेना। माता के मंदिर मे कैसे भूखे ही सो जाओगे ? पगला तुम्हे कुछ दे या नहीं, कोई ठीक है ?"

"नहीं पुजारीजी, मुझे जो कुछ खाना था, खा चुका दिन ही मे। मै एकाहार का ही अभ्यासी हूँ।"

पंडितजी की इस विरक्ति से प्रभावित होकर चले गए पुजारीजी। और पंडितजी हिमालय की उज्ज्वलता पर सूर्य की अंतिम किरणों की अठखेलियाँ देखने लगे। शुद्ध और शांत वातावरण ! सूर्य की कनक किरणें हिमालय के शिखरो से भी उडकर आकाश में खो गईं। धरती पर संध्या व्याप्त हो उठी ! कुछ चिडियें उस एकांत को शून्यता मे स्वर के स्पंदन उपजाकर अपने-अपने नीडों मे समा गईं। जीवन का शंख केवल तीव्र और तीक्ष्ण पवन के झोके फूँक रहे थे। और कुछ आभास मिल रहा था धर्मशाला की ओट मे प्रकाशित अग्नि की ज्वाला मे।

पंडितजी उधर बढे। दूर से उन्होंने देखा, मोटे-मोटे लकडी के दो गिंडे जलाकर एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य अर्द्धनग्न अवस्था में आग ताप रहा है। दूर ही से पंडितजी ने उस व्यक्ति के लिए हाथ जोडे।

गूँगा तुरंत ही उठ खडा हुआ। उसकी मुखाकृति से प्रकट हुआ, मानो उसका कोई बिछुडा साथी अचानक आ गया हो। उसने दौडकर पंडितजी का हाथ पकडा और उन्हे अपने आसन पर खींच लाया।

पंडितजी उठकर भागे—"भाई, मै अग्नि-सेवन नही करता।"

"तूँ ऽ ऽ ?" गूँगे के मुख पर एक आश्चर्य अंकित हो गया। सुनकर समझ लेता है वह, ऐसा जान पडा। उसने अपने नीचे बिछा हुआ टाट का टुकडा उठाकर आग से दूर जहाँ पंडितजी खड़े थे, वहाँ बिछा दिया और पंडितजी को बिठा दिया।

धर्मशाला के बरामदे मे उसने आग जला रक्खी थी। एक कमरा भी पूरे उसी के अधिकार मे था, ऐसा जान पडा। बाहर की ज्योति से कमरे के भीतर की अस्त-व्यस्तता कुछ दिखाई पडती थी।

गूँगा कमरे के भीतर जाकर एक पत्ते मे रक्खा हुआ कुछ हलुवा उठा लाया और पंडितजी के सामने रखकर, हाथ के संकेत मे कुछ मुख की टूटी-फूटी ध्वनि मिलाकर मानो बोला—"खा लो।"

पंडितजी ने पत्ता दूर खिसकाकर कहा—"मैं खेती का उपजा हुआ नहीं खाता, न आग पर पका हुआ ही।"

गूँगे ने कमर मे दोनो हाथ रखकर अग्नि के क्षीण प्रकाश मे कुछ देर पंडितजी को तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। फिर उनकी पीठ ठोककर हलुवा उठाकर आग मे डाल दिया। वह हर्षातिरेक मे नाचने लगा।

फिर वह अपने कमरे के भीतर गया। कुछ अँधेरे मे टटोलकर काँख में दबा लाया। पंडितजी का हाथ पकड़ उन्हे मंदिर मे ले गया। अपनी मंद्र मधुर ज्योति मे मंदिर का दीपक जगमगा रहा था। गूँगे ने देवी की प्रतिमा के सम्मुख पंडितजी को ले जाकर बिठा दिया। पुजारी रात के जाड़े से बचाने के लिए देवी को एक कपडा ओढा गया था। गूँगे ने वह कपडा खीचकर एक ओर फेंक दिया। उसने अपनी काँख से एक चीथडे मे लिपटी हुई फटी और मैली दुर्गा सप्तशती की पुस्तक निकालकर पंडितजी के सामने रख दी। संकेत से जताया कि इसका पाठ करो।

"पाठ से क्या होगा ? माता अधिक हल्ला मचाने वाले बालक को थप्पड लगा देती है।" पंडितजो ने हँसकर कहा।

गूँगे ने अपने होठो पर हाथ रखकर कदाचित् यह सुझाया कि चुपचाप पाठ करो।

पंडितजी गूँगे को आज्ञा मानकर चुपचाप पाठ करने का अभिनय करने लगे। गूँगा, हर्ष की पराकाष्ठा मे चिल्लाता हुआ बाहर से मंदिर की पंद्रह-बीस परिक्रमा कर न जाने कहाँ चला गया।

धीरे-धीरे पंडितजी का पूजा मे मन लग गया। वह बडी तन्मयता से पाठ करने लगे। प्राय. बीस मिनट के अनन्तर ज्यो ही पंडितजी ने मन मे कहा—"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण—" दीपक निर्वापित हो गया।

देवी के जाडे की कल्पना सहज थी पुजारीजी के लिए। उनके भोजन की सामग्री भी ज्यो-की-त्यो वापस मिल जाती थी उन्हे—उसमे भी वह क्या घटाते-बढाते ? फिर वह राशन, महँगी और अभाव का युग ! देवताओं को भी तो इस संकट मे कुछ कटौती करनी उचित है। नींद आने-भर को उजाला चाहिए ! आँख लग गई तो फिर क्या प्रकाश, कैसा अन्धकार ! पुजारीजी कहते—"अपव्यय मानव-द्रोह है। क्यो न इस तेल से पुजारी की कढाई बोल उठे—'छ्याँऽऽ !"

पंडितजी ने स्मृति की सहायता से श्लोक पूरा किया—

"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम:॥"

बाह्य जगत में निशा का घनीभूत अन्धकार भीतर मन्दिर में घँस पडा ! कभी पंडितजी को कंठाग्र थी तो सही वह सप्तशती। वाणी की सहज साधना से जब वह अजपा की ओर बढ़े, तो माता को पुकारने के बदले उसकी आहट पर उनके कान खुल गए। उसको पुकारने से उसकी सुनने में अधिक रुचि हो गई।

पंडितजी गूँगे की धर्मशाला की ओर गये। आग कुछ धीमी पड गई और गूँगा उसके निकट ही पडकर सो गया था।

पंडितजी के मुख से फिर निकल पड़ा—

"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

तामसी रात्रि प्रकृति की निद्रा ही तो है। पहाड़ों की गहराई में वह अन्धकार-निद्रा जाग उठी थी। पंडितजी खड़े-खड़े उस अँधेरे मे धँसकर विचारने लगे—"इस निशा की ओट से कौन पुकार रहा है? वही छायामयी कृष्णा! उसने भय भी दिखाया है और वह हाथ उठाकर अभय की चेतना भी दे रही है। वही माया—महामाया, उसने पग-पग पर मृत्यु छिपा रखी है और वही कहती भी है कि कूद पड़! कितना विकराल और वैसा सुन्दर इसका रूप है! प्रकाश मे छलना है, मिलना तो अन्धकार ही में है। सब उजाले ही मे ढूँढ़ते हैं।"

"अन्धकार! सूचीभेद्य अन्धकार! यह अन्धकार ही माता का कालीत्व है। इसमे छिप जाना ही उसका दर्शन है। भय कितना सघन हो उठता है इस रात्रि मे—वह तो एक परीक्षा है। हे मेरे दिन के संशय! तुम निशा के विश्वास में बदल जाओ। वह कदापि भयावनी नहीं है। चल देख तो आ कुछ दूर तक। सिंह और बाघ! इन हिंस्र पशुओं से कम हैं ये मेरे ही मन में रहने वाले लोभ और क्रोध के दो पशु! चल तो सही यह अंधकार बुला रहा है तुझे। फेंक दे पंखी!" कहते हुए पंडितजी ने पंखी उतारकर भूमि पर रख दी। ठंडा पवन उनके एक-मात्र खद्दर के कुरते को छेदकर उनके अंग का स्पर्श करने लगा।

वह उस गूँगे के निकट आये। उन्होने उसे देखा—"कौन है यह! कमर मे एक लँगोटी और कंधे पर एक अँगोछा! शीत का इसे जब कोई भय नहीं है, तो फिर इसने आग क्यो जला रखी है? अपनी ही ओट में इसने दर्शन को छिपा लिया है। जहाँ माँ नही है वहाँ खोज रहा है यह उसे?"

गूँगा सोए-ही-सोए हँसने लगा।

"गहरी नींद मे न जाने क्या सपना देख रहा है! हे माँ, इस साधक से क्यो कुपित हुई हो तुम? क्या अपराध हुआ है इससे तुम्हारा? क्यो इसकी वाणी छीनकर तुमने इसे पंगु कर दिया। क्यो इसको तर्कविहीन करके पागल बना दिया? जिसको अभिशाप-रूप मे हम देख रहे है, क्या वह तुम्हारा वरदान है? वाणी और तर्क की दो बाधाएँ निःशेष कर तुमने उसे अपने निकट ले लिया है क्या? केवल एक सहारे के लिए इसने आग जला रखी है। माता की गोद मे कौन सहारा अपेक्षित है? जाडे को तो नही कदाचित् हिंस्र पशुओ को डराने के लिए इसने उजाला कर रखा है। जो दूसरे को डराता है वह स्वयं भयभीत है। सो रह, तू अपने ही मोह की कालिमा मे सो रह। मुझे कोई भय नहीं है—मैं इस निशा के अंधकार मे कूद जाऊँगा—कहाँ है सिंह? जहाँ सिंह है उसी की पीठ पर माता है।"

पंडितजी वन की ओर जाने लगे। गूँगा एकाएक जाग गया, दौडा और उसने पंडितजी का हाथ पकड लिया। उसकी चेष्टा और कोलाहल से यह स्पष्ट था कि वह पंडितजी को वारण कर रहा था।

पंडितजी रुक गए। हँसकर बोले—"मैं तो समझा था तुम सो गए!"

गूँगा हँसने लगा जोर-जोर से। उसने अपने निकट कुछ पत्ते बिछा दिए, उस पर एक बाघ की छाल डाल दी और पंडितजी को उस पर सो जाने का संकेत दिया।

"मै आग का सहारा नहीं मानता," कहकर पंडितजी अपनी शय्या को दूर खिसका ले गए।

गूँगा भी वही पहुँच गया और पंडितजी का हाथ पकडकर एक ओर सो गया।

रात-भर पंडितजी ने उस पगले की पकड मे कोई शिथिलता नहीं पाई और वह उसकी सुप्तावस्था की जागरूकता से चकित हो उठे।

"मेरे मन के विचार को सोते हुए भी क्योकर इसने जान लिया?"

रात-भर पंडितजी इसी प्रश्न को सुलझाते रहे—"तब क्या विचार बिना इन्द्रियों की सहायता के भी हमारे मन तक पैठ सकता है ? विचार के आगे-पीछे के लिए न कहीं द्वार हैं, न कहीं दीवारें। वह सर्व-व्यापक है, देश-काल के बन्धनों से ऊपर है वह।"

दूसरा दिन हुआ। पुजारीजी नहा-धोकर सूर्योदय से कुछ पहले ही घर से लौट आए। मन्दिर में आकर जो उन्होंने पंडितजी के रंग-ढंग देखे तो देवी क अन्य दर्शनार्थियों से कहने लगे—"क्या जाने कहाँ से आ गया यह ? कुछ ठीक-ठीक भेद नहीं देता। एक पागल था ही यहाँ, एक और दूसरा आ गया।"

गूँगा पंडितजी पर छाया-सा लग गया। उनकी गतिविधि और वाणी-विचार से उनको समझने की चेष्टा करने लगा। यही दशा पंडितजी की भी थी। वह उसके पागलपन का अर्थ ढूँढने लगे।

तारों की छाया में ही गूँगा उठ गया था। सबसे पहले उसने अग्नि प्रज्वलित की। पंडितजी जाग ही रहे थे। उन्हें उठाकर वह शौच और स्नान के लिए ले गया। एक झरने पर दोनों ने स्नान किया। दोनों आसन पर लौट आए।

गूँगे ने एक पतीली में पानी उबलने रख दिया और उसने गाँजे की चिलम भरी। स्वयं पीकर पंडितजी को देने लगा।

"मैं तो तम्बाकू भी छोड़ चुका हूँ।"

गूँगे ने आग्रह किया, हठ की। पंडितजी किसी प्रकार नहीं माने। गूँगे ने अपनी झोली में से एक जड़-सी निकाली, उसे तोड़ा। एक बड़ा टुकड़ा स्वयं खाकर एक टुकड़ा पंडितजी की ओर बढ़ाया।

पुजारीजी आ पहुँचे। पंडितजी से बोले—"नहीं, नहीं, इसे मत खाना, यह भयानक विष है।"

"इन्होंने तो खाया है।"

"अभ्यास है इसे।"

"इस पर्वत पर होता है यह ?"

"इस पर तो नहीं। हिमालय के सन्निकट अधिक ऊँचाई पर होता है।" पुजारीजी ने चिलम उठाई—"ठंडी कर दी !"

"कौन लाता है ?"

"लाता कौन है ? सारा हिमालय इसका घूमा-फिरा है। वहाँ तपस्या भी कर चुका है यह, पर क्रिया बिगड गई कुछ, इसी से यह दशा है। देवी का सौम्य रूप ही शुभदायक है, उग्रता ठीक नही है। हमारी यह वैष्णवी देवी है। देखिए महाराज, कोई गडबड विचार आपने यहाँ किया नही कि आपको लेने के देने पड जायंगे। मै आपको सावधान करता हूँ।" पुजारीजी ने गूँगे की ठंडी होती हुई चिलम में फिर लौ उठा ली—"ला तुम भी पियोगे ?"

"नही।" पंडितजी ने फिर निवारण किया।

"ये सब झूठे बन्धन है अच्छा करते हो। लेकिन इस गूँगे की संगति से कुछ दूर ही रहो तो अच्छा है।"

"पुजारीजी, आप इनके कर्म मे लिप्त है, संगति आपकी है या मेरी ?"

पुजारीजी कुछ अवसन्न-से प्रतीत हुए—"आग के निकट बैठो न।"

"नही, ऐसा ही व्रत है मेरा।"

गूँगे के संकेत पर पुजारीजी चाय बनाने लगे। गूँगा अपने कमरे के भीतर जाकर कुछ फल, मिठाइयाँ और मेवे निकाल लाया।

"एक बात विचित्र है इस गूँगे के भंडार मे। खाने-पीने की किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। दर्शनार्थी नाना प्रकार के पदार्थ इसे दे जाते हैं, इसमे संशय नहीं, पर कभी-कभी यह ऋतु के अनुकूल, संभावना के विरुद्ध फल-फूल और मेवे-मिठाइयाँ निकालकर बाँट देता है।"

पंडितजी ने ध्यानपूर्वक सुना। एक भक्त नित्यप्रति गूँगे को लोटा-भर दूध दे जाता था। दूध भी आ गया। चाय बनी, सभी ने मेवे-मिठाइयाँ उडाई और चाय भी पी।

पंडितजी उनके घेरे से दूर यह सब लीला देख रहे थे। पुजारीजी की श्रद्धा बढ चली पंडितजी पर और गूँगे के मुख से भी यही भाव प्रकट हुआ।

दिन पर-दिन बीत चले पडितजी के उस देवी-शिखर पर। दिन मे एक बार वह कुछ कंद-मूल खा लेते, कुछ पत्ते चबा लेते, कुछ जल पी लेते, बस! अनेक वनस्पतियों का पता गूँगे ने उन्हे दिया था।

पंडितजी के रहन-सहन का कुछ अध्ययन कर पुजारीजी की बडी श्रद्धा हो गई उन पर। चारो ओर उनकी कीर्ति फैल गई। दर्शनार्थी उन्हे भी भेंट चढाने लगे, पर वह सब गूँगे को ही दे देते।

आवश्यकताओं के बिलकुल संक्षिप्त हो जाने से बाहर कोई आकर्षण न रहा पंडितजी के। हिमालय की ओर समस्त दिन ध्यान मे ही बीतता उनका। ज्यों-ज्यो उन्होने उस प्राकृतिक भोजन की मात्रा कम की त्यो-त्यो उनकी नींद भी कम होती गई और जाडे की कल्पना भी।

गूँगे ने पंडितजी का अनुकरण आरम्भ किया। उसने भी कंद-मूल आरम्भ किये, परन्तु चाय, तम्बाकू और उस विष का त्याग नहीं किया।

कुछ दिन के वहाँ के अभ्यास से पंडितजी ने विचार किया—"प्राण अन्न पर स्थापित नहीं है तो शाक पर भी नहीं है।" वह केवल जल पीकर रहने लगे।

लोग दंग रह गए उनकी स्थिति पर। उनके निकट भक्तो की भीड बढ चली। वह सब विघ्न समझकर एक दिन उन्होने पुजारीजी से कहा—"अब और आगे बढ जाना चाहता हूँ।"

"कहाँ?"

"हिमालय पर—शिव के अनुसंधान में।"

"पिता का पता माता ही बताती है। इसलिए इस देवी के मन्दिर को छोडकर न जाओ।"

"यह वातावरण भारी जान पड़ता है, मैं हलका हो चला हूँ और स्वयमेव ऊपर खिचा

गूँगा पंडितजी को देख-देखकर खूब उनकी पीठ ठोकता। जल पर कुछ दिन की अवस्थिति से पंडितजी ने अपने को और भी हलका अनुभव किया। उन्हे ऐसा भान होने लगा, यदि वह पानी पर चलें तो कदाचित डूबें नहीं। वह बोल उठे—"जब मैं जल पर ही जीवित रह सकता हूँ तो क्यो नहीं पवन में मेरे प्राण ठहर जायंगे। दो पवनों की एक संधि ही तो जल है।"

गूँगा बार-बार पंडितजी को संकेत से हिमालय को दिखाता और वहाँ चले जाने को कहता। एक दिन उसने मिट्टी पर अपनी उँगली से लिखा—"हंस-लिंग!"

पंडितजी ने पुजारी से पूछा—"हंस-लिंग क्या हुआ?"

"यह एक तीर्थ है हिमालय पर।"

"मैं वहाँ जाना चाहता हूँ।"

"परन्तु वह प्रत्येक को नहीं दिखाई देता। केवल दिगम्बर ही उसे देख सकता है।"

"मैं दिगम्बर होकर ही उसे देखूँगा। पुजारीजी मेरे कपड़े और पंखी सब फट गए। मैं अब इन्हें नवीन से नहीं बदलूँगा।"

"केवल नंगा रहना ही क्या दिगम्बरता है? दिगम्बरता है पुरुष और प्रकृति के बीच के भेद का विस्मरण!"

"जो हिमालय पर नंगा रह सकता है, उसके शीत और गरमी के बीच मे कोई भेद नहीं। गरम और शीत का द्वैत ही पुरुष और प्रकृति के बीच का आचरण है। अब मैं प्रकृति और पुरुष की जय के बीच मे अद्वैत की जय पुकारूँगा। हिमालय ने इसीलिए सारी वनस्पतियों का प्रवेश निषिद्ध किया है अपने अंचल मे!"

कन्द-मूल का स्वल्प भोजन, पंखी और नींद को देवी-शिखर में ही छोड़कर पंडितजी हिमालय की ओर बढ चले।

बहुत दूर तक वह गूँगा उन्हे पहुँचा आया।

तेरह

. . . .

पारुली के भाग्य की तारिका क्या चमक उठी बम्बई मे, वह स्वयं ही तारिका बन गई ! चमक उठा उसमे लछमियाँ !

इन्दर-सभा परदे पर आई ! वह चल पडी और खूब चल पडी। नगरो मे उसकी धूम थी, मालिकों और वितरकों ने आशातीत धन उसके बटोरा। वह वर्ष का सबसे सफल चित्र कहकर विज्ञापित किया गया।

पर केवल पैसा खींच लेना ही क्या चित्र की सफलता है ? बिना श्रेष्ठता का उपादान सम्मिलित किये हुए सफलता केवल स्वार्थमयी है। प्रदर्शक को धन का लाभ और दर्शक को केवल फूहड मनोरंजन, कामुक तृप्ति—उसकी नैतिक चेतना के लिए कोई भोजन नहीं, उसकी भावुकता का कोई जागरण नहीं, उसमें कोई ऐतिहासिक और स्वाभाविक सत्य का संश्लेषण नहीं ? यह कैसी बात है ? आदान और प्रदान संतुलित होना चाहिए। नहीं तो यह जेब कतरना है।

आज टिकटघरो की भीड को सफलता कहते हैं तो कह लीजिए। अभिनय, परिच्छद और स्थापत्य की वर्णसंकरता—कोई वातावरण उपजाती हो चाहे न हो, विश्व-प्रेम की सूचना अवश्य देती थीं। व्यापकता के उद्देश्य से यह लेख की हत्या ! यह मूढ व्यापकता है। बनावटी लेख, काल-वैषम्य, अति अभिनय, लचर कथानक और सस्ता संगीत ! क्या इसी अस्वाभाविकता का नाम व्यापकता है ?

कुछ भी हो कुमारी परी क्षितिज पर चमक उठी! उसके जगत की परिधि बढ चली, उसकी कामनाओ का विस्तार सीमाओ का अतिक्रमण कर चला। चित्र के निर्माण और सफल प्रदर्शन तक लगभग एक वर्ष लग गया था। इस एक ही वर्ष के बम्बई-निवास मे लछमियाँ और परी सिर से पैर तक बिलकुल बदल गए।

उनकी वेश-भूषा बदल गई, रहन-सहन बदल गया, भाषा और उच्चारण बदल गया, रूप-रंग, धरती और वातावरण सब बदल गया।

परुली कुमारी परी हो गई और लछमियाँ हो गए थे मिस्टर लछम। पर मिस्टर लछम जब इस बात को गम्भीर होकर एकान्त मे विचारते थे तो अपने को कोरा कुमार लछम ही पाते थे। परी विवाह के प्रश्न पर विचार करने के लिए उन्हे एक सेकिंड भी देने को तैयार न थी।

सिनेमा के अनेक कर्णधारो से उसका परिचय हो गया था, बडे-बड़े अभिनेता उसकी अभ्यर्थना करते, उसे भोजों के निमन्त्रण देते, प्रमुख फिल्म-कम्पनियो मे वह अभिनंदित होती और मिस्टर लछम, उसकी मोटर हाँकते हुए एक चपरासी-से उसके पीछे-पीछे घूमते।

जब वह अभिनय करती तो उसका बटुआ, रूमाल या फरकोट सँभाले उसकी परिक्रमा करते। कभी उसे प्रांप्ट देते, उसके मेक-अप में कोई कभी सुधार देते या ओट मे पडी हुई किसी कुरसी पर बैठे-बैठे नींद का कोटा पूरा करते! जब कुमारी परी किसी अभिनेता या निर्देशक के साथ उसकी ओट मे कोई बातें करती तो मिस्टर लछम समझते—"मेरे विवाह के विरुद्ध ही वे षड्यन्त्र रच रहे है।"

मिस्टर लछम हो गया लछमियाँ। बढिया-से-बढिया सूट उसके अंग पर। सिर मे टोप और नाक पर डॉक्टरी-जाँच-सम्मत शुद्ध और सही नम्बर का चश्मा।

दिन-भर मिस्टर लछम छाया की तरह कुमारी परी के पीछे-पीछे फिरते। रात को दोनो एक होटल मे रहते। दोनो के अलग-अलग दो

कमरे थे। कुमारी परी का साथ उसकी एक नर्स-नौकरानी देती थी और मिस्टर लछुम रात-भर बिजली का बटन खोले पीता कभी सिगरेट कभी कुछ और। कुमारी परी की आहट पर ऊँघते हुए स्वप्न देखता, वह उसे पान की पीक की तरह कहीं पर थूककर कहीं दूर उडकर चली गई।

कुमारी परी का ऐसा कुछ विद्रोहात्मक भाव तो बढ़ा नहीं था लछुम के प्रति। वह उसे अपनी इस नवीन दुनिया का कोलम्बस ही समझती थी। मिस्टर लछुम को व्यय करने के लिए ही पर्याप्त धन नहीं—जमा करने को भी देती थी। अनेक छोटे-मोटे पार्ट पर भी उसको आमदनी होती थी।

पति के नाम से प्रसिद्ध नहीं किया गया लछुमियाँ वह विशेषण भविष्य की किसी धूमिल ओट मे छिपा दिया गया था। पर उसे मिस परी के साथ संबद्ध रखने के लिए जो पद दिया गया था, वह भी हजारों मनुष्यों की लार टपका देने की वस्तु थी। यदि उचित विज्ञापन पत्रो मे उस पद के लिए दिया जाता तो हजारो आवेदन-पत्र आकर जमा हो जाते।

मिस्टर लछुमियाँ बनाए गए थे मिस परी के प्राइवेट सेक्रेटरी। उसके समस्त रहन-सहन की व्यवस्था, लिखा-पढी, बैंक और कंट्रेक्टो का हिसाब-किताब, आमन्त्रण-निमंत्रण की योजनाएं—सबका उत्तरदायित्व लछुमियाँ ही पर था। बिना उससे मिले कोई कुमारी परी के दर्शन नहीं कर सकता था।

पर लछुमियाँ इससे कभी संतुष्ट नहीं रहा। वह तो उस डायरेक्टर को ही भाग्यशाली समझता था जिसके निर्देशन पर कुमारी परी ने अपने समस्त हाव-भाव, बोल-चाल और शोक-हर्ष समर्पित कर दिए थे। अभिनय के क्षेत्र मे उसका प्रवेश धन की प्राप्ति के लिए नहीं परी की प्राप्ति के लिए था। इंदर के अखाड़े मे उसने इंदर को अपने प्रतियोगी के रूप मे पाया। उनके प्रीति-सम्भाषणो से उसके हृदय मे

ईर्ष्या होने लगी। कल्पना, केवल एक अभिनय, एक बनावट—इन छींटों से वह आग नहीं बुझी।

दूसरे चित्रपट के लिए बातचीत चलने लगी। इस बार लछमियाँ दृढ-संकल्प था कि परी के साथ उसके प्रेमी की भूमिका वह स्वयं ही लेगा। वह समझता था इंदर-सभा में जहाँ कहीं उसने छोटे-मोटे पार्ट किए हैं, वे सब उसे और आगे बढाने की साक्षियाँ हैं। फोटोग्राफर बोला—"लेंस पर तुम्हारे मुख की रेखाएं आकर्षक नहीं।" ओडियो ग्राफर ने कहा—"आलेखन में तुम्हारी ध्वनि रजकता नहीं रखती।"

निर्देशक ने कहा—"मिस्टर लछम, उच्चारण सही है तुम्हारा लेकिन अभिव्यक्ति का चढ़ाव-उतार मनोवैज्ञानिक नहीं है। एक्टिंग में कोई ग्रेस नहीं। गाना भी नहो आता आपको।"

"प्लेबैक के युग में गाना कोई मूल्य नहीं रखता।"

"एक्टिंग ?"

"जैसा बताइएगा, वैसा करूँगा।"

"अभी तो एक्टिंग भी दूसरे को करने दीजिए। आप साइड में खडे-खड़े हाथ-पैर हिलाइए। धीरज रखिए कला अध्ययन और अभ्यास माँगती है, कलाकार उपजता है, ढाला नहीं जाता।"

दो विरोधी वाक्यो के बीच मे छटपटा उठे मिस्टर लछम। वह सोचने लगे—"क्या मतलब है उस डायरेक्टर का ? यह सीखने का आश्वासन भी देता है और यह भी कहता है कि कलाकार ढाला नहीं जाता। एक यही डायरेक्टर या कम्पनी है। मैं हरगिज परी का कंट्रेक्ट नही होने दूँगा इस चित्र मे।"

डायरेक्टर ने मिसपरी के सेक्रेटरी को हताश मुद्रा में देखकर कहा—"एक बात है। खलनायक के अभिनय के लिए आपका ट्रायल ले सकता हूँ।"

"खलनायक कौन है आपके चित्र मे ?"

"एक पूँजीपति।"

"वह प्यार करता है मिस परी को ?"

"क्यो नही करता ?"

"अंत मे परी मिलती है उसे ?"

"खलनायक को हिरोइन कभी नहीं मिलती !"

"सब छल ! सब प्रपंच ! मै नही कर सकता खलनायक का अभिनय । मै जिसे प्यार करता हूँ उसी को पाना भी चाहता हूँ ।"

अभिनय के जगत की बात छोडिए मिस्टर सेक्रेटरी, वास्तविक जगत पर आइए । उस धरती पर आप कुमारी परी के विशेष अनुग्रह के पात्र है । बम्बई का बडे-से-बडा अभिनेता आपसे स्पर्धा रखता है । अभिनेता की यह मृग-मरीचिका उसी के लिए छोड दीजिए । उस पोले प्लाइवुड और परदे के जगत मे केवल बाहरी पॉलिश है । वास्तविकता आपके साथ है । आप भाग्यशाली है ।"

"आप मूर्ख बना रहे है मुझे । देखिए, एक भूमिका तो मै बडी सही और सच्ची कर ही रहा हूँ ।"

कुछ चौककर डायरेक्टर ने पूछा—"कौन-सी ?"

"आप समझे नही ! मेरा मतलब है, जो मै हूँ वास्तविक जीवन मे —मेरी वह भूमिका । क्या केवल आकर्षक मुख ही ढूँढ-ढूँढ कर आपके कैमरे के सामने रखना कोई स्वाभाविकता है ? क्या जगत मे सब सुन्दर-ही-सुन्दर है, असुन्दर कुछ भी नहीं ?"

इसके माने है आपके लिए विशेष कहानी लिखी जाय । घोडा गाडी तक नहीं जाता, तो गाडी घोडे तक ले आई जाय । आप किसी कथाकार से कोई कहानी लिखा लाइए अपने मॉडल पर, मुझे कोई आपत्ति न होगी । जो कुछ मुझसे होगा, मै भी उसमे सुधार करने को तैयार हूँ । हमारे इस नए सामाजिक चित्र का हीरो टेनिस का चैम्पियन है ।"

"टेनिस नहीं खेलता क्या मैं ?" रोष के सहारे फिर कुछ आशा बटोरी मिस्टर लछम ने ।

"खेलता कौन नहीं, पर चैम्पियन होना तो दूसरी बात है।" निर्देशक ने कहा—"सेक्रेटरी महोदय, आपकी यह बात मैं मानता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य एक पार्ट करने मे-अद्वितीय होता है। वह अभिनय होता है उसकी अपनी स्वाभाविकता का। आपके स्वभाव को समझकर यदि कोई कथाकार ठीक-ठीक आपकी कहानी लिख दे, तो मै समझता हूँ मेरा कोई अस्तित्व ही नही है कि मै आपको नायक की भूमिका न दूँ ?"

"कथाकार बनाइए कोई ?"

"दर्जनो को आप जानते-पहचानते है। उनमें से किसी से भी जिससे आपकी प्रीति-प्रतीति हो, आप और भी गाढी मित्रता कीजिए। खूब बात-चीत कीजिए, साथ-साथ उठिए-बैठिए, भ्रमिए-घूमिए। सम्भव है आपके स्मरणो में से वह कोई कहानी विकसित कर डाले। यदि आपका स्वभाव समझकर वह सही कहानी लिख लेगा, तो कोई कारण नहीं कुमारी परी के तीसरे चित्र में निश्चय ही आप उनके समानान्तर अभिनेता न हो।"

अशान्वित होकर मिस्टर लछ्मन बोले—"हमारे इस दूसरे चित्र "खिलाडी" के लेखक नकुलजी के बारे मे आपकी क्या राय है ?"

"आदमी होशियार है। कुछ सुस्त और लापरवाह है। लेकिन यदि लिखने मे जब उसका मन लग जाय, तो बड़ी बढ़िया वस्तु बनाकर रख देने मे भी कुछ देर नही लगाता। आपकी मित्रता तो है उसके साथ ? मेरी समझ मे उनसे कहे आप ? यदि अच्छी कहानी लिखी गई तो आप दोनो को लाभ पहुँचेगा।"

मिस्टर लछ्मन निर्देशक के उस विचार से सहमत हो गए। एक दिन नकुलजी के पास जाकर उन्होने कहा—"मित्र, अब एक कहानी आप मेरी लिख डालिए।"

नकुलजी बोले—"तुम्हारी कहानी कैसी ? मै तो तुम्हें एक शुष्क व्यवसायी जानता था। है तुम्हारे पास कोई कहानी ? मतलब क्या है

तुम्हारा ? उसे कौन खरीदेगा ?"

"मैं मिस परी से कहकर बिकवा दूँगा उसे। कोई चिंता न करो रुपये की। बड़े-बड़े धनेश आकृष्ट है परी की कला पर !"

"रुपया तो जमा है मिस परी के पास बहुत। अस्सी हजार में 'खिलाड़ी' का कंट्रैक्ट किया है। क्या स्वयं कोई फिल्म बनाने का विचार है ? लेकिन मैं इस झंझट में पडने की उन्हे कभी अनुमति न दूँगा। जहाँ पैसे मे मन दिया, कला चौपट हुई !"

"नहीं, उनका कोई विचार नही है।"

"फिर तुम्हारा है क्या ?"

"नहीं मेरा भी नहीं। पर फिल्म मे काम करने का है।"

"फिल्म मे काम कर तो रहे ही हो।"

"हीरो का पार्ट करना चाहता हूँ मिस परी के साथ।"

"परी से कोई सम्बन्ध है तुम्हारा ?"

मिस्टर लछम विचार मे पड गया।

नकुलजी बोले—"आप तो छिपाने लगे यह। सच्ची कहानी ऐसे नहीं बनेगी। जब कहानी सच्ची न होगी तो उसमें आकर्षण कैसे पैदा होगा ?"

मिस्टर लछम ने कहा—"पहले यह तो जान लूँ कि आप प्रस्तुत हैं मेरी कहानी लिखने को।"

"हूँ तो सही। पर कहानी में प्राण होने चाहिएं।"

"हैं प्राण !"

"रोमांस चाहिए, सस्पैंस चाहिए।"

"कल्पना कर लेना, जो कुछ कमी हो तो। चाय में भी तो दूध और चीनी डाली जाती है अलग से।"

"अच्छा कहो तो सही अपनी कहानी।"

"कहूँगा। स्वस्थ होकर बैठने की आवश्यकता है हम दोनो को। एकांत स्थान चाहिए। अवकाश ढूँढ़कर कोई अच्छा दिन नियत करेंगे।"

"अच्छी बात है।" कहकर चल दिए नकुलजी। मिस्टर लछ्मन के व्यक्तित्व और बातो मे वह कोई आकर्षण उपजा न सके थे।

दिन-पर-दिन बीत चले, पर मिस्टर लछ्मन की कहानी के लिख जाने की घडी नही आई। "खिलाडी" पूरा होकर प्रदर्शित किया जाने लगा। मिस परी की कला और भी प्रकाश से चमक उठी। बडे-बडे फिल्म-निर्माता, निर्देशक और अभिनेता उसके तीसरे चित्र के लिए उसकी परिक्रमा करने लगे। उनकी भीड़ मे मिस्टर लछ्मन अपने को खोया और भूला सा देखने लगा।

मिस्टर लछ्मन ने देखा, परी का उसके लिये जो प्रेम था, वह विभक्त हो गया था। उसके मन मे परी के प्रति अनेक संशय उपज गए थे। रुपए पैसे की उसे कोई कमी नही थी; पर रुपए-पैसे का उसके पास कोई मूल्य नहीं था। वह आकुल था केवल परी के प्रेम क लिए। पर परी उससे केवल रुपए-पैसे की हो बातचीत करती थी, प्रेम का नाम ही न लेती थी।

लछ्मन को भयानक मानसिक चिन्ता हो गई। वह भीतर-ही-भीतर घुलने लगा। वह कठोर परिश्रम का आदी था पहाड पर; बम्बई मे केवल विलास के बीच मे रहने से भी उसका स्वास्थ्य गिरता गया।

"तुम पाषाण-सी कठोर हो गई हो परी, मेरे लिए। अब असह्य है।" लछ्मन ने एक दिन कहा।

अब यह आवश्यक नही रह गया था परी के लिए कि वह जहाँ भी जाय लछ्मन को अपने साथ ही ले जाय। वह किसी फिल्म-निर्माता से अपने तीसरे चित्र के लिए बातचीत करने अकेली ही, जा रही थी। बोली—"लछ्मन, तुम्हारे मन मे न जाने क्यो व्यर्थ ही संशय उपजने लग गए? आवश्यक बातें तय करने जा रही हूँ। भीड लेकर जाने से तो काम नही चलेगा न?"

"मैं कब कहता हूँ, मुझे भी ले चलो। भावना यदि तुम्हारी मेरे पास हो, तो तुम कहीं भी जातीं मुझे दुःख न होता। भावना न जाने

कहाँ है तुम्हारी, साथ मे हूँ तुम्हारे ही, पर ऐसा जान पडता है, कहीं मरुस्थल मे अकेला ही भटक गया हूँ।"

"कहाँ है फिर मेरी भावना? कला मे है, क्या यह भी कोई अपराध है? कहाँ होनी चाहिए? केवल एक व्यक्ति के प्रति-बंधन मे? यह तो घोर स्वार्थ है लछम! मै अभिनेत्री हूँ, तरह-तरह की भूमिकाओ मे मेरी अभिव्यक्ति है। मै तारिका हूँ, बादलो मे ढक भी जाती हूँ और जब चमकती हूँ, तो चमकती हूँ व्यापकता मे, विस्तार मे। एक छोटे-से डिब्बे मे तुम कहाँ बन्द कर देना चाहते हो मुझे?"

"बन्द कर देना ही होता तो तुम्हे तिपनियाँ से अपने गाँव मे ले जाता, बंबई न लाता।"

"तुम्हारी इस कृपा का मैं सदैव ही ऋण चुकाती हूँ। तुम्हारे भोजन-निवास क व्यय के अतिरिक्त यह जो मै तुम्हे पाँच-सौ रुपया प्रति-मास वेतन के रूप में देती हूँ यह और क्या है? तुम्हारे लिए अलग मोटर खरीदने के लिए मैंने रुपये दिए हैं और गाँव मे मकान बनाने के लिए भी मैंने ही धन भेजा है। धन की कुछ गिनती ही नहीं है। उसके उल्लेख को मेरी तुच्छता न समझो, जब जितना चाहो, माँग लो मुझसे। अगर न दूँ तो कहना।"

"धन नही चाहिए मुझे। मैं कीर्ति चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ जिस प्रकार तुम्हारी संगति से वह टेनिस का चैम्पियन प्रसिद्ध हो गया है, उसी तरह तुम्हारे तीसरे चित्र में मैं हो जाऊँ।"

"मेरी जो संगति तुम्हें प्राप्त है, उसके प्रति ये सब प्रति-स्पर्धा रखते हैं।"

तुम्हारा प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ मैं। तुम्हारी नर्स से अधिक मेरी प्रतिष्ठा नहीं है। तुम्हारा शोफर हूँ, कुली हूँ। तुम्हारा कोट, बटुआ, चेक बुक और पास बुक लिये-लिये तुम्हारे पीछे फिरता हूँ।"

"मैं तुम्हारी ही हूँ। क्यो नहीं समझते ऐसा? उन स्थानों के लिए मैं दूसरे व्यक्ति रख लूँ फिर?"

और प्रतिवाद के साथ लछ्मन ने कहा—"नहीं, नहीं, दूसरा नहीं ! दूसरा नही !"

"फिर क्यों संशय बढा रहे हो व्यर्थ। तुम मुझे बंबई लाए हो तो मैने विश्व के विलास की चाबी यहाँ आकर तुम्हे दी है। सब-कुछ कर सकती हूँ तुम्हारे लिए केवल विवाह नही कर सकती। उस नाम की क्षुद्रता मे रक्खा क्या है ? तुम्हारी नहीं हूँ क्या मै ? उस पोली संज्ञा से क्या बढ जायगा तुम्हारा ? परन्तु मैं—मेरा सारा रजतपट का जीवन विनष्ट हो जायगा, लछ्मन ! मुझे इतनी गहरी चोट पहुँचाने को तैयार हो ?"

"नहीं हूँ परी, नहीं हूँ।"

"तब प्रसन्न मुद्रा धारण करो, उदासी छोडो। देखती हूँ, तुम्हारे स्वास्थ्य पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड रहा है। मैंने सुना है इधर तुम बहुत अधिक—"

बीच ही मे मिस्टर लछ्मन बोला—"क्या करता फिर ? जीवन की निराशा को मिटाने के लिए नहीं चाहिए कुछ ?"

"बुरी बात है यह। नकुलजी की संगति का असर है यह। तुमने क्यों उनकी मित्रता बढाई है ?"

"क्या नकुलजी बुरे आदमी है ? इतना बडा कहानीकार नहीं है दूसरा। 'खिलाडी की कितनी बढिया कहानी लिखी है उन्होने। क्या डायलॉग, क्या गाने—सब एक-से-एक बढिया। घर-घर प्रत्येक की जिह्वा पर चढ गए हैं ये। क्या यह कोई साधारण बात है ? कलाकार का प्राइवेट कैरेक्टर गिनती की चीज नहीं है। मै कहता हूँ, नकुलजी की कहानी ही सारे फिल्म की प्राण है। उसी पर 'खिलाडी' फिल्म के सब खिलडियो ने प्रसिद्ध पाई है। तमाम आर्टिस्ट और टैकनीशियनों की ख्याति के आधार वही नकुलजी हैं।"

"कम्पनी ने काफी रुपया उनको दिया। पैसे को सँभालकर रखना आता ही नहीं उनको। दो ही दिन मे नंगे हो जाते हैं।"

"वह उनकी उदार वृत्ति है। जी खोलकर दे—ले, खिला-पिलाकर बराबर कर देते हैं। कहते हैं, यदि वह ऐसा न करें तो उन्हें नवीन विचार सूझते ही नहीं।"

"हमें उनकी कला से मतलब है। देखते नही हो तुम, मैं उनके व्यक्तित्व का कभी साथ नहीं चाहती।"

"मै भी उनकी कला के लिए उनको चाहता हूँ। बिना उनका साथ किए उनकी कला नहीं पा सकता। और उनकी कला चाहता हूँ तुम्हारे साथ के लिए। मै अपने लिए उनसे एक कहानी लिखा रहा हूँ। यदि उनकी समझ मे आ गई तो वह कहते है चुटकियो में लिख डालूँगा।"

"वह कभी न लिखेंगे। कितनी कठिनाइयाँ हमारे मालिकों को हुई थी 'खिलाडी' को लिखाने मे। इस कटु अनुभव से हमने तो कान पकड लिए हैं कि मेरे तीसरे चित्र की कहानी उनसे नहीं लिखाई जायगी।"

लछम घबरा उठा—"मैं लिखा लूँगा परी! मानो मेरी बात। वह लिख डालेंगे।"

"ऊँ हूँ।" घडी देखकर परी ने कहा—"देर हो रही है, मैं जा रही हूँ तीसरे चित्र के कंट्रैक्ट के लिए।"

लछम ने परी का हाथ पकड लिया—"ठहरो, परी मुझे भी साथ लो।"

"कंट्रैक्ट एकांत का विषय है।"

"कंट्रैक्ट से नही, मेरा मतलब है, तीसरे चित्र मे अपने अभिनय का साथी मुझे बनाओ।"

"निर्देशक कहते हैं तुम अभिनय के योग्य नहीं।"

"एक अभिनय निश्चय ही कर सकता हूं। टेनिस का चैंपियन यदि नही हो सकता तो लछमियाँ ड्राइवर का पार्ट कर सकता हूँ, किया है बराबर। कंट्राक्ट कर आओ तुम। कहानी पर अपना ही प्रति-

बंध रखना। कहानी तुम्हारी ही रहेगी।"

"मेरी कहानी कौन-सी ?" साश्चर्य परी ने पूछा।

"मेरी कहानी वास्तव मे तुम्हारी ही कहानी तो है, तिपनियाँ का लछमियाँ ड्राइवर कैसे आगे बढा ? उसके इञ्जिन में जो बिजली थी क्या वह तुम्हारे ही रूप की नही थी ? हमारी कहानी के प्रमुख पात्र हम ही रहेंगे। बड़ी विचित्र कहानी होगी वह गाँव से नथ की चोरी का अपराध लगाकर निकाले गए एक किसान के पुत्र और समाज के कलंकरूप नगर से निकाली गई एक गायिका की।"

"नही, मै अपने उस जीवन की बीती हुई कहानी खोल देने को तय्यार नहीं हूँ। मेरी प्रतिष्ठा में बट्टा लग जायगा इससे।"

"तब कैसे मै तुम्हारे साथ पार्ट कर सकूँगा ?" दीर्घ निश्वास छोड़कर मिस्टर लछम ने कहा।

"देखो लछम, एक चित्र में पूँजीपति लाखो रुपए लगाता है। चित्र-निर्माण को जुवा नहीं बना देना चाहिए हमें। उसकी कहानी, संगीत, दृश्य, पात्र और टैकनीशियनों को विचारपूर्वक ही रक्खा जायगा। तुम्हारी कहानी ? क्य कहानी है तुम्हारी ?"

"एक प्रगति का इतिहास है वह। कैसे नहीं है वह कहानी। मेरा सघर्ष, मेरी वेदना जलती हुई ज्योति है उसकी। वह पास हो जायगी परी, सारा भारत आगे बढ़ जाने को बेचैन है। वह सारे भारत में प्रसिद्ध हो जायगी। घर-घर उसके गीत गूँज उठेंगे।"

"नही, एक मनुष्य की सनक ही तुम्हारी कहानी है। उस पर लाखो रुपए बलिदान नहीं किए जा सकते।"

"वह करोड़ों रुपए का ढेर लगा देगी, ऐसी कहानी है।"

"शेखचिल्ली का सपना केवल ! मुझे देर हो रही है।"

फिर पकड़ लिया लछम ने परी का हाथ—"तुम्हारी विनय करता हूं, कहानी मै छाटूंगी कहना।"

"कहानी छाँट ली गई है। तुम्हारी कहानी यदि फेल हो गई तो

पूँजीपति को ही नहीं मेरी कीर्ति को भी गहरा धक्का लग जायगा। फिर हमारे लिए नही रहेगी जगह बंबई मे, याद रक्खो यह बात।"

"अच्छा, कहानी लिख लेने दो, एक सप्ताह का अवकाश दो। मैं आज ही नकुलजी से कहता हूँ। एक बार सुनाना तो सही मालिकों को वह कहानी। केवल एक सप्ताह और ठहर जाओ।"

"सारा स्टाफ रख लिया गया है। हजारो रुपए का दैनिक खर्च चढ रहा है मालिको के सिर पर। तुम्हारी कहानो के लिए नही रुक सकता कोई। क्या अनुभव रखते हो तुम कहानी का ?"

"जीवन का अनुभव रखता हूँ। यदि कहानी जीवन मे अनुप्राणित नही है तो उसे कहानी नाम देना कला का लांछन है। पंडितजी के बेसिक स्कूल से मेरो कहानो आरम्भ होगी।"

परी जाने लगी—"चलो, तुम्हारी ही मोटर मे जाऊँगी।"

"नहीं अपने ड्राइवर को ही बुलाओ। मै नकुलजी से कहानी लिखाने जाता हूँ।"

"लेकिन वह कहानी नहीं लिखाई जायगी। मुझे बदनाम नही करोगे तुम ?"

"अच्छा तुम्हारा भेद नहीं खोलूँगा, अपनी ही वास्तविकता दिखा दूँगा।"

"चौथे चित्र के लिए रक्खो ये बातें।"

"चार दिन का समय भी न दोगी ?"

"नही लछम, असम्भव है। मैं तुम्हे निराश नहीं करना चाहती। तुम चौथे चित्र के लिए यह सब तय्यारी कर सकते हो। छै ही महीने की तो बात है।" कुमारी परी ने नर्स को बुलाकर कहा—"मोटर तय्यार कराओ शीघ्र।"

घोर निराशा में पड़कर लछम बोला—"तुम अपनी कंपनी खोलो। मैं कहता हूँ तुम्हे सफलता मिलेगी।"

"रुपया कहाँ है मेरे पास इतना ?"

"उधार मिल जायगा तुम्हे ।"

"कैसी बहकी बहकी बाते कर रहे हो लछ्म तुम आँखें कैसी हो रही हैं ये तुम्हारी ? नकुलजी का साथ छोड दो ।"

"चार दिन बाद अगर तुम मेरी कहानी लेकर मालिकों से बातचीत करो तो हानि है कुछ ?" लछ्म ने चश्मा उतारकर पोछा और फिर पहनकर परी के सुसज्जित कक्ष के विशाल दर्पण मे अपनी प्रतिच्छवि निहारी ।

पहले ही से परी उसमे अपना प्रतिबिंब देख रही थी । नर्स नही थी कमरे मे, कोई भी नहीं था । लछ्म ने उसके कंधे से अपना सिर लगाकर कहा—"अपने आगामी चित्र मे तुम्हे यह जोडी सहन नहीं है ?"

पोर्च पर मेरी के शोफर ने भोंपू बजाकर अपनी उपस्थिति जताई । परी अधीर होकर कहने लगी—"मुझे जाने दो लछ्म !"

रास्ता छोड़ दिया लछ्म ने—"मै अपनी कहानी सुनाकर ही मालिको से कुछ निश्चय करने का आग्रह करता हूँ तुमसे ।"

परी ने उसकी बात उड़ाकर कहा—"हाँ, हाँ !" वह तीव्र गति से चली गई ।

उसके कमरे मे अकेला ही छूट गया था लछ्म और छुटी हुई रह गई थी । कुमारी परी के मुख-राग की सुरभि ! वह भी उड चली । अकेला खडा-खडा लछ्म मन मे सोचने लगा—"अंगूरी रेस्तोराँ मे ले चलता हूँ आज नकुलजी को । सारी कहानी सच-सच सुना दूँगा आज उनको । केवल परी का नाम ढक दूँगा । सम्भव है उनकी कल्पना जाग जाय ।"

नर्स ने लौटकर उसका ध्यान तोड दिया—"आप न जायंगे कहीं ?"

"हाँ जाऊँगा मै भी ।" लछ्म ने वेश-विन्यास की कोई भी चिंता नहीं की । वेग के साथ वह अपने कमरे मे गया और गैरेज की चाबी

निकालकर घर से बाहर उतर गया। वह एक होटल से दूसरे होटल, एक स्टुडियो से दूसरे स्टुडियो मे नकुलजी को ढूँढने लगा। अंत मे अंगूरी रेस्तोराँ के उच्चतम तल क एक एकांत कमरे मे बंद नकुलजी को उसने ढूँढ ही लिया।

लछ्मन ने द्वार खटखटाया। कुछ उत्तर नही मिला। द्वार के एक छिद्र से उसने भीतर कमरे मे देखा। चकित होकर मन मे कहने लगा —"क्या कर रहा है वह पगला? मेज पर मोमबत्ती जल रही है। चारपाई पर पैर हवा मे उठाए यह किस आकाश को उठा रहा है न जाने। अधिक नशा चढा हुआ है? बडा विचित्र मनुष्य है!"

उसने फिर द्वार खटखटाया—"खट्! खट्! खट!"

बडी विरक्ति-भरी ध्वनि भीतर से आई—"कौन है?"

"मै हूँ भाई, लछ्मन। बहुत आवश्यक काम है। नही तो कदापि बाधा नहीं पहुँचाता।"

कुछ संयत हुआ स्वर। नकुलजी बोले—"लेकिन मैं काम कर रहा हूँ।"

"काम ही से तो मै आया हूँ। सारी बंबई को राख छानकर तुम्हें खोज पाया है। मुझे निराश न करो नकुलजी मै तुम्हें भी निराश न होने दूँगा।"

"मैं एक गाना लिख रहा हूँ। 'मार डाला' फिल्म का आखिरी गाना। इसी पर सारी फिल्म लटकी हुई है। एक हजार रुपया देने को कहा है मालिको ने। केवल चार ही पंक्तियाँ, पर चोटी की होनी चाहिए! इसी से रेस्तोराँ की चोटी पर चढकर द्वार बंद कर बैठा लिख रहा हूँ। लिखने क्यों नहीं देते। किसने मेरा पता दे दिया तुम्हे यहाँ का? संसार भयानक स्थान है, किसका प्रेम! किसका विश्वास?"

"द्वार तो खोलो। मैं एक दर्जन गीत लिखाने आया हूँ।" नकुलजी की भावुकता फूट पडी! वह मेज के निकट गए, कुरसी पर बैठे। मोम-बत्ती ने एक बूँद आँसू की गिरा दी। मेज पर एक कागज, दवात-

कलम रक्खे हुए थे। लिख-लिखकर बहुत कुछ काट दिया गया था कागज पर। नकुलजी फिर लिखने लगे—

"दिये किसी ने नही मुझे मेरे गीतो के दाम।"

"खोलते क्यो नहीं द्वार ? मै तुम्हारे लिए हिमालय जैसा बढ़िया आइडिया लाया हूँ।"

नकुलजी गुनगुनाते हुए उठे—"देगा कौन मुझे फिर मेरे इन गीतों के दाम ?" उन्होने द्वार खोल दिए।

"कर क्या रहे थे तुम ? अंग मे वस्त्र नहीं, केवल एक लँगोट ?"

"गीत लिख रहा हूँ, सुना नही तुमने ? एक हजार रुपये की सिर्फ चार पंक्तियाँ, एक पंक्ति के ढाई सौ रुपये। एक मात्रा के जो समझो तुम, सोलह मात्राएँ हुई तो कितने हुए ? सोलह का भाग दे डालो ढाई सौ में। सोलह एकम सोलह, बचा नौ, उतरा शून्य, सोलह पंजे अस्सी, बचा दस-पंद्रह रुपये दस आने। मिलता है किसी को मात्रा के हिसाब से ?"

"तुम तो कुश्ती लडने की ड्रेस मे हो, गीत लिखना भी क्या कोई हाथा-पाई है ?"

"है कैसे नही भावो की कुश्ती है। बहकाने वाले भावो को दबाकर ही तो कविता का भाव विजयी होता है, पर आज अब न लिख सकूँगा कुछ। तुमने आकर मेरा सारा एकांत खडखडा दिया।"

"मैं उसे फिर बना दूँगा," कहकर लछम ने द्वार बंद कर दिए— "चारपाई पर पैर ऊपर किए क्या कर रहे थे तुम ? यही भावों की पछाड है क्या ?"

"अरे भाई, यही बात तुम्हारी समझ मे नहीं आई। मै कर रहा था शीर्षासन। मस्तिष्क में कुछ रक्त जमा कर रहा था कि वह तनिक स्फूर्ति से काम करे। नहीं है तुम्हारा योग मे विश्वास ? मुझे तो है मित्र शत-प्रति-शत !"

"और दिन-दोपहर मे मोमबत्ती क्यो जला रक्खी है ?"

"यही तो गीत लिखने की साक्षी है।"

"खाली बोतल है या भरी, जिसके मुँह मे तुमने मोमबत्ती खडी कर रक्खी है ?"

"उस आधार की बात छोड दो। जो स्थिरता और जो ज्योति खड़ी है उस पर, उसको देखो।"

"बिजली तो है इस कमरे मे उसे खोल लेते।"

"क्यो खोल लेता ? मुझे अपने गीत मे रात का वातावरण देना है।"

"कह तो रहा हूँ, बिजली खोल लेते।"

"पतंग की जो आहुति दिखानी है ? मै कहता हूँ शहरो मे बिजली के लग जाने से पतग गाँवो की ओर चले गए।"

"तुमने प्रतिज्ञा कर रक्खी है, आज सुन लो मेरी कहानी।"

"तुम्हारी कहानी में रात का वातावरण है ?"

"है।"

"और उसमें पतंग भी है ?"

"है।"

"तब जलती ही रहने दूँ यह मोमबत्ती, क्यो ? तुम्हे कोई संशय नही है न ?"

"नहीं, कुछ भी नहीं।"

"तब सुनूँगा तुम्हारी कहानी। ठीक मूड में पकड पाया आज तुमने मुझे। कुछ पियोगे ?"

"नहीं।"

"अच्छा, विश्रांति के साथ बैठ जाओ इस सोफे पर मेरे साथ।"

दोनो उसमें बैठ गए।

लछ्मन कहने लगा—"बड़ी आशा बाँधकर आया हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी कहानी एक जीवित कहानी है, और तुम्हारे सिवा

दूसरा कोई उसे जागता हुआ नहीं लिख सकता ।"

नकुलजी ने बडी गम्भीरता से मूँड़ हिलाया और मोमबत्ती के पास जाकर मेज पर के कागज मे कुछ संशोधन किया और कागज लछम के हाथ में देकर फिर बैठ गए अपनी जगह पर ।

लछम ने पढा—"लेकिन देगा कौन मुझे मेरी स्टोरी के दाम ?" लछम ने हथेली पर मुट्ठी ठोककर कहा—"मै दूँगा, मैं दिलाऊँगा । कहानी तो लिख दो पहले । अगर कुमारी परी ने उस पर रीझकर अपनी गरदन हिला दी तो जहाँ कहोगे, वहाँ बिक जायगी; जितने में कहोगे उतने मे बिक जायगी ।"

"कहो, फिर क्या है कहानी ।"

"दूर-दूर ऊँचाई पर एक पहाड, हिमालय, दो-तीन कोणो से उसके दर्शन, संध्या और प्रभात के रंग । देवदारु के वृक्षो की पंक्तियाँ । लहराते हुए झरने, नदियाँ ।"

"सजावट छोड दो, यह आर्ट डायरेक्टर का काम है । केवल मुख्य-मुख्य बातो को कहो ।"

"पहाडी गाँव में एक किसान रहता था, उसके एक लडका था, वही कहानी का नायक है ।"

"ऊँहूँ, प्रथम पुरुष मे कहो, तभी कहानी में जान पड सकेगी । तुम तो कहते थे वह कहानी तुम्हारी है ।"

"हाँ मेरी ही कहानी है । वह मेरे ही पिता थे और मैं उनका पुत्र । जब मेरी आँख खुल रही थी उसी समय एक पंडितजी ने हमारे गाँव में आकर एक बेसिक स्कूल खोल दिया और खेती-पानी सब ओट में कर दी मेरी आँखो से ।"

"पंडितजी का नाम ?"

"पंडितजी ही, बस । हमे उनके काम से काम था, कभी नाम जानने की आवश्यकता नही समझी ।"

"यह गुमनाम पंडित मेरी समझ मे नही आया ।"

"बढ चलो का गीत उन्होंने ही सिखाया सबसे पहले मुझे। मै उनके स्कूल मे भरती हुआ। गीत की पहली पंक्ति अभी सुनाता हूँ। सुनिए—'हे ज्वलंत क्रान्ति के ज्वलित प्रमाण बढ चलो।' मै बढ चला। एक सेट स्कूल का बनाया जायगा पूरा। कैरेक्टर है पंडितजी का एक विशेष। बीस बीस बालक इकट्ठे किये जायँगे। दिन-भर मैं पंडितजी को छेडता था।"

"लेकिन तुम अब काफी बढ गए हो, वह तुम्हारे बचपन का पार्ट कौन करेगा?"

"कोई भी कर लेगा।"

"फिर यौवन का पार्ट करने के लिए क्यो बेचैनी है तुम्हारे मन में? हटाओ भी बखेडा। कुछ रस नही जान पडता तुम्हारी कहानी मे।"

"सुनिए तो सही, अभी हिरोइन का प्रवेश ही कहाँ हुआ?"

"कौन है हिरोइन?"

"एक कलाकारिणी।"

"सचमुच?"

"हाँ, हाँ ले आओ फिर उसे जल्दी। बीच की बाते सब छोड दो। केवल पाइंट दिखाओ, बीच की रेखा स्वयं बन जाती है। क्या नाम है उसका?"

"नाम? कलाकारिणी ही समझो। बडा बढ़िया गाती है, बडा सुन्दर नाचती है।"

"कहाँ है वह? उसे दिखाना पडेगा, तभी तो भाव सूझेंगे। और तुम्हें आपत्ति हो गई उसका नाम बताने मे भी। पंडितजी को तो गुमनाम सहन कर लिया मैंने हीरोइन को ढक देने से काम न चलेगा। कहाँ है वह आजकल?"

"यहीं बम्बई मे।"

"तब चलो, पहले उसे दिखाओ, तभी कहानी मे जान पड़ेगी।"

"पहले पूरी कहानी तो सुन लो। दिखाऊँगा उसे अवश्य ही दिखाऊँगा। अभी नहीं, उसकी आज्ञा नहीं।"

"बस तो समाप्त हो गई कहानी। गीत उडा दिया तुमने और कहानी का भी पडाव से पहले ही पेट्रोल खतम हो गया। वाह मिस्टर लछ्मन! लघुशंका हो उठी है, अभी आता हूँ," कहकर नकुलजी गायब हो गए।

आधे घटे तक लछ्मन ने उनकी प्रतीक्षा की, न आए। लछ्मन ने सारा रेस्तोरां ढूँढा, कुछ पता न चला। मेनेजर ने कहा—"भली चलाई नकुल जी की, कभी होश मे भी रहते है?"

निराश होकर लछ्मन लौट गया अपने निवास पर। कुरसी पर पडे-पडे विचरने लगा—"यह कैसा बढ चला मैं? बडा विकट विघ्न का पर्वत मेरे सामने आकर खडा हो गया। न इसका अतिक्रमण ही कर सकता हूँ, न इससे होकर उड ही सकता हूँ। प्रगति का अन्तिम छोर मान लूँ इसे? इसके उस पार भी तो कुछ मनोहर संगीत सुन पडता है? फिर?"

मिस परी की मोटर रुकी पोर्च पर। वह हँसती हुई, उमंग भरी चावों से कमरे मे आ पहुँची। धडकते हुए हृदय को लेकर लछ्मन उसके सामने गया।

"लछ्मन, प्रसन्न होओ, एक लाख का कन्ट्रैक्ट हो गया।"

"कहानी पर तुमने प्रतिबन्ध नही रखा?"

"लाभ ही क्या? मैं क्यों अपने लिए एक उत्तरदायित्व मोल ले लेती?"

लछ्मन माथा पकड़कर अपने कमरे मे लौट गया। वह शय्यागत हो गया, उसी समय से उसे ज्वर चढ गया।

चौदह

हंसलिंग की सीमा के निकट पहुँच चले पंडितजी। प्रकृति का समस्त वैभिन्न एकता मे विलीन होता जा रहा था। वृत्तों की विशालता छोटी-छोटी झाड़ियों में और फिर छोटे-छोटे पौधों मे विलीन हो गई थी। भाँति-भाँति के फूलो मे फैला हुआ प्रकृति माता का मनोहर वर्ण-विन्यास, केवल छोटी-छोटी घास की हरीतिमा मे एक-राग हो गया था।

नगर और ग्राम नीचे छूट गए। मनुष्य की कृत्रिमता बहुत दूर रह गई। जो पशु-पक्षियो की कंदराएँ, बिल और और नीड पंडितजी का साथ देते रहे थे, वे भी आगे न बढ सके। शीत और ऊँचाई की बढती के साथ केवल पंडितजी ही आगे बढ रहे थे।

प्रकृति मे नवीन वसंत स्फुरित हो रहा था। चारों ओर भाँति-भाँति के फूलों की मधुर गन्ध छा गई थी वायुमंडल मे। हाँ मधुर गन्ध ! केवल जल तत्व से ही जीवन के लिए समस्त तत्व ग्रहण में निष्ठावान पंडितजी अपनी सारी आवश्यकताओ के भार को हलका करके ऊँचाई का अतिक्रमण करते जा रहे थे। एक लँगोटी, कुरता और एक जीर्ण पंखी के अतिरिक्त कुछ भी न था उनके पास। एक जल-संग्रह को तूँबी थी। अनेक स्थलो पर उन्हें चारो हाथ-पैरो से पहाड पकड-पकडकर चढना पड रहा था। कौपीन मे से एक धारी फाडकर उन्होने तूँबी बाँध ली

थीं कमर मे, पर वह खिसककर लुढकती हुई चली गई। पंडितजी हँसने लगे—"त्याग के मार्ग पर फिर बहुत से बंधन स्वयं ही खुल पडते है।"

धीरे-धीरे जल पर ही जीवन धारण करने वाला वह साधक पवन पर ही प्राण स्थिर कर देने को बेचैन हो उठा। किसी विशेष दुर्बलता की आशंका ही तो हमारी सारी विफलता का बीज है। उनका मन कामनाओ के बोझ से हलका पड गया था। नगर मे उनकी कामना को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए सैकडो काँटे थे तो ग्राम मे भी कुछ थे ही। ज्यो-ज्यो वह हिम की ओर बढते गये, त्यो-त्यों वे सब कम होते गए। हंसलिंग पर नीचे हिम और ऊपर वायु, केवल ये दो-दो तत्व रह जायंगे—शिव और शक्ति, एक का कारण दूसरा।

पडितजी फिर सोचने लगे—"जल दो पवनो की ही तो एक ग्रन्थि है। पृथ्वी के तत्व जब जल से मिल गए तो पवन से जल के तत्व क्यों न मिल जायंगे ?"

अनेक विष-पुष्पो की गंध से कई बार पंडितजी चेतनाहीन से हो गए थे। वह तनिक भी नहीं घबराए। कहने लगे—"जब वायु अपनी अणु-सूक्ष्मता से मेरी भौतिकता पर प्रभाव डाल सकती है, उसकी विष-गंध मेरी चेतनता पर प्रहार करती है, तो क्या मै उसके अमृत को नही खींच सकता ? अवश्यमेव ! मै केवल पवन पर ही जी सकता हूँ। यही अन्तिम न्याय होगा, क्योकि इसके पश्चात् ग्रहण कुछ भी नहीं है। वायु-भक्षण भी क्या कोई ग्रहण है ? यह फेफडों का संकोच-प्रस्तार ही तो जीवन का आदि है !"

केवल जल पर ही जीवन धारणा करने से वह मन ही मे नहीं, तन मे भी हलके पड गए थे, कभी-कभी सोचते—"पक्षी की भाँति उड जाने को मन करता है इस अनन्त की नीलिमा में।"

धीरे-धीरे वायुमंडल से अभ्यस्त होते हुए पंडितजी हिम की रेखा के निकट आ गए। हरीतिमा का आधार कभी का छूट चुका था उनसे;

उसके दर्शन भी छूट गए। वसंत के आगमन से हिम-रेखा ऊँचाई की ओर सरकने लगी थी उत्तरायण के साथ।

दिन मे उत्तप्त घाम रहता, रात को कडी सरदी। यह बाह्य द्वैत पडितजी को अद्वैत-साधना की भारी बाधा जान पडी। मानसिक साम्य से वह बाहरी भेद सहज ही जीता जा सकता है, ऐसा उनका अटल विश्वास था। रात की ठंड को सूखी धरती की एक कंदरा मे बिताकर और दिन की गरमी को हिम पर जाकर वह संतुलित करने लगे। धीरे-धीरे अभ्यास के साथ विश्वास बढ़ चला।

सारे विचार एक ही विचार मे मिल गए, वह एकता थी द्वैत की साधना। वह केवल पवन पर ही जीवित रह गए। कभी-कभी वह सोचते—"यह पवन है या विचार? पवन की सूक्ष्मता ही विचार है। श्वास ही विश्वास है। विश्वास, विशेष प्रकार से श्वास लेने का अभ्यास!"

ज्यो ज्यो यह विश्वास बढता गया त्यों त्यो उन्होने देखा हिम और सूखी भूमि का आकर्षण विकर्षण घटता गया। ठंडक गरमी मे समा गई, गरमी ठंडक मे लीन हो गई। उनकी पंखी तार-तार हो गई। ओढने के काम की न रही! कुछ दिन उसे बिछाकर आसन बनाया उन्होने। पश्चात् न जाने कहाँ गई? पक्षी अपना घोंसला बनाने के लिए उसके ताने-बाने नोच ले गए या कोई जानवर उसे घसीट ले गया, ऐसी कोई जिज्ञासा ही नहीं उपजो उनके। साम्य अभाव को भर चला था। वही दशा कुरते की भी हुई। फट गया, फिर उन्होने उसे उतार कर फेंक दिया।

केवल एक कौपीन! द्वैत के बीच का अन्तिम आवरण—गरम और ठंडक की शेष कडी!

अब आसन स्थिर हो गया पंडितजी का। सूखी धरती की कोई चाह न रह गई थी उनको; न भूख के लिए न प्यास के वास्ते। नीचे शुभ्र हिम, जल की अनन्त शक्ति का भंडार, ऊपर दुर्भेद्य अगम आकाश

शिव रूप ! ये दोनो कहीं पर मिलते अवश्य हैं । द्वैत ही एकता का प्रमाण है । एक सत्य दूसरी छाया—शिव और माया ! कहाँ पर है इनकी एकता ?

पंडितजी के चारो ओर तरुण वसंत के प्रभात से उद्भासित हिमालय के शिखर थे । आगे-पीछे, दक्षिण-वाम सब श्वेत-ही-श्वेत । उनकी दृष्टि के सामने हंसलिंग अपनी प्राकृतिक रूप-रेखा मे बडे-से-बडे तक्षक का मान-मर्दन कर रहा था ।

केवल वायु पर ही अवस्थिति करते हुए पंडितजी को कई महीने बीत गए । भूख के चले जाने से उनकी नींद भी अपने आप तिरोहित हो गई थी । नींद के चले जाने से उनके दिन और रात का सारा अन्तर मिट गया ।

हिम के आसन पर बैठे हुए पंडितजी आँख बन्द करके ध्यानस्थ थे । फूल की पंखुरी-सा उनका शरीर भी विचार की डोरी पकडकर नीलिमा मे उड जाता सा प्रतीत हो रहा था । वह बार-बार अपनी भावना से प्रकृति के इस विद्रोह को दबा रहे थे । दबा न सके अन्त में, एकाएक उनका आसन हवा मे उठने लगा । उनकी मानसिकता ने भय की सहायता से इस चमत्कार का सामना किया । वह भूमि पर गिर पडे ।

उनके मस्तक मे एक शिला-खंड से चोट पहुँच गई । रक्त की धारा से हिम रँग गया । पास में और कुछ न था; उन्होने कमर मे बचा हुआ शेष कौपीन का टुकडा खींच लिया और मस्तक के क्षत्र पर उसे बाँध दिया—"क्या हुआ यह ? क्या मेरा आसन सचमुच उठ गया था पवन मे ? नहीं एक भ्रांति उपज गई थी । भ्रांति, तो फिर चोट कैसे लगी ?"

वह फिर आसन में अवस्थित हो गए—"फिर परीक्षा हो जायगी । इस बार अब नहीं डरूँगा । भय से ही तो चोट लगी । बढ चलने का अन्तिम पड़ाव नहीं है यह हंसलिंग ! इसके ऊपर भी तो ये कई आकाश हैं ।...आकाश पर इस शरीर का भार लेकर कौन जा सकता

है ? शरीर की मुख्य आवश्यकताएँ अन्न-वस्त्र छोड़कर ही तो यहाँ तक बढ़ सका हूँ। अब ऊपरी स्तर शरीर को भी नहीं माँगता क्या ? फिर यहाँ पर जब अवरुद्ध हो गया हूँ तो क्यों नही देवी-मंदिर मे—गाँव में या अपने नगर मे ही संतोष कर लूँ। यह कैसा बढ़ना है जब हंसलिंग के ऊपर कोई मार्ग ही नहीं !"

ध्यान करते-करते हंसलिंग पर पंडितजी को एक अद्भुत प्रकाश दिखाई दिया। उसके बीच में एक अतिमानवी मूर्त्ति प्रकट हो गई थी। पंडितजी ने आँखें मलकर फिर देखा—उस मूर्त्ति का आधा अंग नर और आधा नारी का था। शिव और शक्ति की एकात्मता है क्या यह ? मेरे मस्तिष्क की चोट से यह कोई भ्रम उपजा है क्या ?"

पंडितजी आसन से उठ गए। वह मूर्ति उसी प्रकार चमक रही थी—"नहीं, भ्रम कुछ भी नहीं है !" उन्होने सृष्टि की उस सनातनता को प्रणाम किया। इसके अनन्तर उन्होने देखा हिम की गुफाओ में से कई श्वेतकेश तपस्वी चारों ओर से उनकी अभ्यर्थना के लिए उनकी ओर दौड़े आ रहे है।

पंडितजी को यह सहन नहीं हुआ। वह उठकर वहाँ से भाग चले—"नहीं, यह इष्ट नहीं है मुझे। शिव को छोड़कर ये मेरी ओर दौड़ रहे हैं। मुझे इनका भ्रम बढ़ाना नही चाहिए। यदि इसके लिए मुझे लौटना भी पड़ जाय तो कोई हानि नही। लौट जाना ही बढ़ चलने की सार्थकता है।"

बड़े वेग से पंडितजी हिम की शुभ्रता से धरती की हरियाली पर आ गए। उन्होने चारो ओर देखा, शिव और उनके साधक दोनो अंतर्ध्यान हो गए थे। पंडितजी फिर भी नहीं रुके, उतरते ही रहे। उन्हें प्यास लग गई, उन्होंने फिर जल पीना आरम्भ कर दिया। उतरते-उतरते उन्हें कई दिन हो गए। उन्हे भूख लगने लगी, उन्होने पत्ते चबाने आरम्भ किए। उन्हें जाड़ा लगने लगा। उन्होने कुछ वृक्षो की छाल और पत्ते कमर से बाँध लिये। उन्हे नींद भी लगने लगी, वह

पेडो की छाया और कंदराओ मे सोकर रात काटते हुए उतरते चले।

कुछ दिन के अनंतर वह देवी के मंदिर मे जा पहुँचे। मार्ग मे उन्हे कोई भी मनुष्य नही मिला था। जो दूर पर दिखाई दिए थे उनसे बोलने का अवसर ही नही मिला था। इस कारण पंडितजी को अपना अभाव ज्ञात न हो सका था अभी तक।

गूँगा दौडा हुआ, मानो पूर्व-निश्चित नियुक्त के अनुसार उनके स्वागत को आया। दूर ही से बोला—"क्यो रे मिला कुछ?"

पंडितजी उस गूँगे को बोलता हुआ पाकर चकित हो गए और उनका आश्चर्य द्विगुणित हो गया जब उन्होंने अपने मुख में उत्तर के शब्दो को गला हुआ पाया।

"क्यो रे बडा अभिमानी हो गया तू? उत्तर भी नहीं देता।"

पंडितजी ने शक्ति-भर चेष्टा की—" तत्तत् तत्तत्।"

"कमर से पत्ते लपेटकर मुख के बोल कहाँ खो आया तू? मेरा गूँगापन कहाँ से मिल गया तुझे? सालभर से ऊपर हो गया, कहाँ से आया है तू?"

पंडितजी ने आकाश की ओर हाथ जोडकर भगवान् की महिमा जताई।

"मुख से तो कोई दुख-निराशा प्रकट नहीं हो रही है तेरी, फिर तू लौट क्यो आया है बस्ती की ओर? हंसलिंग पहुँचा था तू?"

मुट्ठी बाँधकर छाती से लगाई पंडितजी ने।

"जाडा हो रहा है तुझे? तुझे तो गरम लगना चाहिए था, ऊँचाई पर से नही आ रहा है क्या तू?"

पडितजी ने सिर हिलाकर मानो कहा—हाँ, ऊँचाई पर ही से आ रहा हूँ।

"चल, धूनी को सचेत कर दूँगा, लेकिन तू तो आग का सहारा छोड चुका था। जाडा होता है तो सेंक ले फिर, क्या त्याग है और क्या ग्रहण? धरती माता की उपज छोड़ देगा तो पैर तो रखने ही

पड़ेंगे उस पर। आधार ही हुआ वह। जल भी नहीं छूट सकता, वायु जल की भरी है और वायु के सागर की मछली ही है तू। अग्नि माता है—कहाँ नहीं है? पृथ्वी मे भी, जल मे भी और वायु मे भी—सभी कहीं। कोई नही छोड सका उसे। क्या छोडकर क्या मिला? मै तो जब जानूँ जब त्याग की कामना को भी छोड सके कोई!"

पंडितजी ने उस वाचाल गूँगे के पैर पकड लिये। उसने उन्हे उठाकर छाती से लगा लिया—"चल, मेरे साथ।"

मंदिर मे संध्या का दीपक टिमटिमा रहा था। पुजारीजी आरती कर अपने गाँव को चले गए थे। उस शून्यता मे झिल्ली झंकृत हो रही थी और हिमालय की पवन वेगवती होने से और भी अधिक चुभ रही थी। मूक वृक्षो मे सरसराहट उत्पन्न हो रही थी और पंडितजी भगवान् की लीला में खोये गए अपने शब्द के लिए पराजित नहीं थे!

पुराना गूँगा हाथ पकडकर उस नए गूँगे को धर्मशाला मे अपने स्थान पर ले गया। अपने आसन पर बिठाया उन्हे, पंडितजी ने कोई आपत्ति नही की। उसने उन्हे अपना एक लम्बा कुरता पहना दिया, पैर भी ढक गए उनके, पंडितजी ने कोई आपत्ति नहीं की। अपनी पंखी ओढा दी उन्हे, आग जला दी उनके सामने—फिर भी पंडितजी ने कोई आपत्ति नही की, वह प्रसन्न मुद्रा मे अग्नि-सेवन करने लगे।

पुराने गूँगे ने एक पतीली मे पानी रक्खा चाय का—"चाय पियोगे न? जाडा हो रहा है। दूर से चलकर आए हो। थके-माँदे हो, पी लेना।"

पंडितजी ने सम्मति का सिर हिलाया।

"क्यो रे, आज यह बात क्या है? मैं तो समझ रहा था, तू सब लटा-पटा गँवाकर आया है। तू तो कुछ ढूँढ़कर ले ही आया है। इस सौदे मे तूने मुख का शब्द खो दिया तो जाने भी दे, कोई टोटा नहीं है। निरालंकारा ही रहना चाहिए जिह्वा को। यह जब निंदा नहीं करती, तो स्तुति करने लगती है। दोनों ही इसके मैल हैं। चाय और

तमाखू से क्या बिगड़ता है इसका। तमाखू पिएगा ?"

पंडितजी ने फिर सम्मति जताई।

"पहले प्रत्येक बात मे तू नाक-भौं सिकोड़ने लगता था। आपत्ति ही आपत्ति थी तेरे चारो ओर। प्रकृति-संसार से खिंचा हुआ तू एक सिरे पर लटक रहा था। तेरा त्याग तेरी घृणा के भाव को बढा रहा था। आज तू संतुलित है, न तुझे चुकाने को कोई ऋण है सिर पर और न तू किसी धन की ही गाँठ बाँध रहा है।"

पंडितजी ने तमाखू भी पिया, चाय भी। हलुआ गरम किया गया। पंडितजी ने वह भी खा लिया। पंडितजी की ओर से केवल हाव-भावो का सहारा लेकर वह पुराना गूँगा बडी देर तक बक-बक करता रहा।

दोनो सोने लगे।

"गूँगे की पीडा मै जानता हूँ मित्र ! मैं इस जोड से उखड़ गया था कई बरस। लेकिन सारा जगत गूँगा है। कौन खोल सका है रहस्य को ? इसलिए क्या चुप रह जाना ही सबसे बड़ी बुद्धि नहीं है ? भीतर की वस्तु भीतर और बाहर की बाहर रहे। प्रकट छिप नहीं सकता, छिपा हुआ खुल नहीं सकता।"

पंडितजी बोले—"ऊँ ! ऊँ ! ऊँ !"

"अब कहीं न जाओ मित्र ! हंसलिंग और माया-नगर के बीच मे यह मातृमंदिर मधुर संधि है। यहाँ शरीर और मन दोनो के लिए भोजन मिल जाता है। शुद्ध एकांत है, साधु-संग है, जगत् जननी है और शिव को छिपाये हुए हिमालय सामने दिखाई देता है। और चाहिए ही क्या ?"

परन्तु चढने पर उतरना ही स्वाभाविक है। स्वाभाविकता एक अटलता है। उसे न कोई धोखा दे सकता है, न कोई उससे परिहास ही कर सकता है। दस-पाँच दिन मंदिर मे रहकर पंडितजी एक दिन अपने गाँव को चल दिए चाचाजी के पास।

बहुत दूर तक वह पुराना गूँगा उस नए गूँगे को पहुँचा आया। मार्ग में उसने वह लम्बा कुरता धो-धाकर पंडितजी को ही दे दिया, एक छोटी सी धोती भी। ग्रीष्म क्षीतिज पर था और पंडितजी नीची .भूमि के लिए धावमान। इसलिए वह पखी वहीं छोड गए।

पुराने गूँगे ने पंडितजी को विदा करते हुए कहा—"घर का मोह हो गया, हो आओ! मैं नही रोकूँगा तुम्हे। एक बात कहता हूं। बोली खुलवाने की कभी प्रार्थना मत करना भगवान् से। कुछ खो गया है, इस भावना मे मत रहना।"

तीन-चार दिन के अनंतर पंडितजी अपने गाँव मे पहुँच गए। दाढी और बाल बढ़े हुए, नंगे पैरों तक लटकता हुआ कुरता, घुटने तक की धोती। दूर से कोई पहचान ही नहीं सका उन्हे।

चाचा और चाची दोनो पूजा-घर मे थे। सीधे वहाँ पहुँचकर उन्होंने दोनों को प्रणाम किया।

"कब आए बेटा?" चाचाजी ने माला लिया हाथ उनके सिर पर रक्खा।

बडी ममता से भरे आर्द्र स्वर मे चाची बोलीं—"यह क्या हो गया तुम्हें, कब आए? कोई पत्र भी नहीं भेजा? कहाँ से आए?"

पंडितजी मधुर मुसकान लिये हाथ जोड खडे ही रह गए। कहते क्या, मुख मे शब्द ही नहीं थे।

चाची ने कहा—"हम लोग कितनी चिंता मे पडे रह गए। देवी के शिखर तक हमने आदमी भेजा। उसके पश्चात् फिर तम्हारा कुछ पता ही नहीं चला। बीमार पड़ गए थे क्या?"

पंडितजी ने सिर हिलाकर प्रकट किया—"नहीं।"

चाचाजी जल्दी-जल्दी जप पूरा करने लगे।

चाची ने पूछा—"इतने दिनो कहाँ रहे?"

मुँह ताकते हँसते ही रह गए पंडितजी।

"बोलते क्यों नहीं ? रात कहाँ रहे ? खाना भी खाया या नहीं ? स्नान हुए या नहीं ?"

पंडितजी ने फिर मूक संकेत से कहा—"हाँ हो गए।"

"बोलते क्यों नहीं ? क्या कोई नवीन मौनव्रत साधने लगे ?"

पंडितजी ने अधरों को हाथ से छूकर उसकी उँगलियाँ घुमाकर कहा—"तुत्तुत्, तुत् !"

चाचाजी ने तुरंत ही आसन छोड़ पंडितजी का हाथ पकड़ लिया—"क्या हुआ, क्या हो गया ? मैं तभी तुमसे कहता था बेटा, स्वाभाविकता न छोड़ो अपनी। लेकिन तुमने उसका नाम रख दिया कृत्रिमता। मिला न फल ? क्या हुआ लकवा पड़ गया ?"

पंडितजी ने सिर हिलाया—"नहीं।"

"आग छोड़ दी, कपड़ा छोड़ दिया, अन्न छोड़ दिया ! अवश्य लकवा मार गया। इस होनी को जानता-पहचानता था मैं। भैया और भाभी को कैसे धीरज मिलेगा ? चलो बैठक में चलो। हाथ-पैर तो ठीक हैं न ?"

हँसते हुए पंडितजी ने चाचा का अनुसरण किया। चिंताग्रस्त चाची भी चलीं। बैठ जाने पर चाचा बोले—"खाने-पीने के क्या ढंग हैं ?"

हाथ जोड़ बड़ी सौम्यता के साथ पंडितजी ने माथा आकाश और पाताल की ओर हिलाया।

प्रसन्न मुख चाची ने पूछा—"मेरे हाथ का बना खाओगे ?"

"हाँ !" पंडितजी ने व्यक्त किया।

"आग का पका ?"

"हाँ।"

"चाय पियोगे ?"

"हाँ"—फिर पंडितजी ने प्रकट किया।

चाचीजी बड़ी प्रसन्नता से रसोईघर की ओर चलीं। प्रातःकाल के

सात बजे होंगे। घर में अभी किसी ने चाय नही पी थी।

चाचाजी बोले—"अच्छी बात है। मनुष्य की सीख पर मनुष्य कान नही देता। प्रकृति जब उसके कान मरोड देती है तो वह सीधे रास्ते पर आ ही जाता है। तुम प्रातःकाल के मार्ग भूले हुए जब संध्या-समय घर पर आ गए, तो हम भगवान् का धन्यवाद स्वीकार करते हैं। तुम्हारे पिता बीमार है। चाहता तो था मै तुम्हे कुछ दिन यहाँ रोक लेता। शुद्ध घी-दूध खाकर स्वास्थ्य-लाभ कर ही तुम वहाँ जाते। जैसे आए थे वैसे ही तुम्हें वापस भेजता, पर लाचारी है। वृद्ध प्राण ठहरे उनके, शीघ्रातिशीघ्र वहाँ जाना कर्त्तव्य है तुम्हारा।"

पंडितजी ने उस प्रस्ताव पर भी अपनी सम्मति प्रकट की।

चाचाजी आज उन्हे इतना विनीत पाकर परम पुलकित हो उठे—"वहाँ समय पर औषधि भी हो सकेगी तुम्हारी। कितने दिन हो गए तुम्हारे इस रोग को?"

पंडितजी ने हाथ की दसों उँगलियाँ दिखाईं।

"दस महीने?"

"नहीं।"

"दस दिन?"

"हाँ।"

कुछ मिठाई के साथ दोनो ने चाय पी। चाचाजी ने एक नाई बुलवाकर पंडित के नख और केश छँटवाकर उनको सभ्य रूप दिया, वस्त्र बदलवाए। कोट उन्हीं का रक्खा हुआ था।

भोजन के अनन्तर चाचाजी ने उन्हे स्लेट-पेंसिल दे अपने पास बिठाकर पूछा—"कहाँ थे तुम?"

पंडितजी ने स्लेट पर लिखा—"हंसलिंग मे।"

"क्या मिला?"

पडितजी ने लिखा—"जब खोने की बात भूल गई, तो सब-कुछ मिल गया।"

"मुख का बोल खो आए ? यही तुम्हारा बढ चलना था ?"

"दो बिंदुओ के बीच मे बढना और पीछे हटना क्या है ? अ से ब की ओर जानेवाला ब की ओर बढ़ता है तो क्या अ से हटता नहीं है ? जो वस्तु आगे बढाती है, वही पीछे भी हटा देती है । केवल एक सापेक्षता का जाल ।"

"गूँगे कैसे हुए ?"

"भगवान् की इच्छा ।"

"बीमार पडे ?"

"नहीं ।"

"हँसलिंग मे क्या किया ?"

पंडितजी ने कुछ नहीं लिखा, केवल हँसने लगे ।

"तपस्या की ?"

पंडितजी चुप रहे ।

"खाने-पीने का क्या प्रबन्ध था वहाँ ?"

पंडितजी ने केवल मुसकान से ही उत्तर दिया ।

"साथ मे कुछ भी नहीं है तुम्हारे । बस केवल यही कपड़े थे ओढने-बिछाने को, उस असह्य हिमानी में ? इसी शीत ने तुम्हारी भाषा का भक्षण कर लिया । कोई क्रिया बिगड गई होगी । बेटा, जिस समाज के बीच मे भगवान् हमें उत्पन्न करते है, क्या उसकी स्वार्थहीन सेवा मे हम भगवान् को नही पहचान सकते ?"

पंडितजी ने अनुमोदन किया ।

"फिर क्यो मनुष्य को उस समाज से कटकर दूर चले जाने की आवश्यकता हो ? एकान्त जितना साधक है, उतना ही बाधक भी । संघर्ष के बीच मे मन का सयमन क्या छोटी तपस्या है ?"

पंडितजी ने हाथ जोडकर चाचाजी की बात मानी । बात-बात मे तर्क का उपयोग करने वाले, अपने ही हठ मे स्थिर उस भतीजे को अब इतना विनीत पाकर चाचाजी परम सन्तुष्ट दिखाई दिए । वह

मन मे सोचने लगे—"बहुत बकवाद के कारण ही प्रकृति ने इसकी वाणी छीनकर इसे उचित दण्ड दिया है।" उन्होने पूछा—"अब तो फिर हंसलिग जाने का विचार नही है ?"

पंडितजी ने माथा हिलाकर प्रकट किया—"नही।"

"क्या करोगे अब ?"

पंडितजी ने लिखा—"प्रकृति ने वाणी छीन ली तो लेख है मेरे पास। समाज के कानो द्वारा उससे संबद्ध नहीं हो सकता तो आँखो के द्वारा उससे जुडा रहूँगा। मै लेख और पुस्तक लिखकर अपनी जीविका चला लूँगा। केवल अकेला मै।"

चाचाजी को निकट के ग्राम मे एक परिचित मित्र का स्मरण हुआ। सम्भ्रांत मध्यवर्ग के गृहस्थ थे वह। बेचारे एक भयानक कठिनाई मे पड गए थे। उनके एक विवाह-योग्य कन्या थी। कन्या गृहकार्य-कुशल, स्वस्थ और सुन्दर थी, पर थी जन्म की गूँगी। वह प्राचीन विचारों के अपनी ही सामाजिकता मे उसका विवाह करना चाहते थे, पर कोई भी उसे ले जाने को तैयार न होता था। कन्या के पिता गहरी मानसिक चिन्ता मे पडे हुए थे।

चाची ने कहा—"बेटा, अकेलापन भी दूर करना पडेगा। समाज से संबद्ध होने के लिए तुम्हे विवाह करना होगा।"

पंडितजी ने नीरव रहकर सम्मति प्रकट की।

"विवाह ही मनुष्य की सामाजिकता का आरम्भ है। विवाह से बच निकलना सबल मनुष्य की दुर्बलता है; रोगी और पागल मनुष्य की बात नहीं कहता मै। पडौस के ग्राम की उस गूँगी लडकी को तुमने देखा है। वह हमारे यहाँ यदा-कदा अपनी माता के साथ आती रहती है। गूँगी होने के कारण कोई भी उससे विवाह करने को प्रस्तुत नही है। मैं समझता हूँ यदि तुम उस कन्या से विवाह करने को सहमत हो जाओ तो मैं अपने एक मित्र की बहुत बडी चिन्ता दूर कर सकूँगा।"

पंडितजी ने पत्र पर लिखा—"मुझे अपने चाचा गुरु की आज्ञा शिरोधार्य है।"

चाचाजी को स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि पंडितजी इतने शीघ्र उनका प्रस्ताव मान लेंगे। उन्होंने हर्ष-गद्गद होकर उनके सिर पर हाथ रखकर कहा—"धन्य हो पुत्र। भगवान् तुम्हे चिरजीवी करें। तुमसे हमारा कुल उज्ज्वल होगा। तुम समाज की शक्ति बनोगे।"

चाचाजी ने उसी समय कन्या के पिता के पास यह संदेश भेजा। पिता यह संवाद सुनकर दौडते-भागते चले आए। उन्होंने बार-बार हाथ जोडकर चाचाजी की कृतज्ञता स्वीकार की।

कुंडलियाँ मिल गईं। विवाह के लग्न भी निश्चित हुए। चाचाजी ने कहा—"मेरा प्रस्ताव समीचीन है। वह इस सम्बन्ध के लिए प्रस्तुत है। मुझे पक्का भरोसा है, भाई साहब मेरी बात को कभी न टालेंगे। शिष्टाचार की रक्षा करने के लिए हमे उनकी आज्ञा प्राप्त करनी आवश्यक है।"

चाचाजी ने उसी समय अपने भाई के लिए पत्र लिखा और उसे लेकर पंडितजी के नगर को जाने की तैयारी की जाने लगी।

उनका बिस्तर ढूँढ-ढाँढकर बाँधा गया। कुछ फल-फूल और एक बर्तन मे घी भी रक्खा गया। एक चाकर यह सब लेकर उनके साथ चला तिपनियाँ तक उन्हे पहुँचाने। वहाँ से मोटर पकडनी थी उन्हे।

चाचाजी ने विदा होते हुए कहा—"पिताजी से कह देना मै स्वयं ही आता पर कई कारणो से विवश हूँ। तुमने जो प्रसन्नता हमे दी है, वह भी उसे प्राप्त करेंगे। बेटा ही नही आज बहू की निकट सम्भावना पाकर निःसन्देह उनके हर्ष की सीमा न रहेगी।"

पंडितजी नगर को चले। पैर में जूता भी पहन लिया, सिर पर टोपी भी। कृत्रिमता और स्वाभाविकता के बीच मे कोई खाई न रही। एक माया थी, दूसरा ब्रह्म। इनको अन्तरित समझना ही क्या हमारी कठिनाई नहीं है? माया को समझकर ही भगवान् समझ पडते हैं।

प्रत्येक वस्तु में छाया और प्रकाश की भांति उस विराट् द्वैत की अभिन्न अभिसंधि है। शिव और शक्ति का समन्वय—जलधि और तरंग! कैसे एक-दूसरे से अलग हैं?

तिपनियाँ पहुँचकर पंडितजी ने चाकर को विदा कर दिया और हलवाई की दूकान के निकट एक बेंच मे बैठकर मोटर की प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ दिन मलेरिया फिर टाइफॉइड का इलाज हुआ लछमन का। कुछ अच्छे हुए फिर ज्वर ने दबा लिया। बीमारी समझ ही मे न आई डाक्टरों को। कुमारी परी ने सभी संभव उपचार किए लछमन के। चौबीसों घंटे उसके निकट बैठ नहीं सकती थी वह। उसके तीसरे चित्र की शूटिंग आरम्भ हो गई थी। नित्य ही कुछ देर के लिए उसका सुख पूछने अवश्य आती थी कुमारी, पर लछमन चाहता था, वह उसी के पास बैठी रहा करे।

ऐसा न हो सका। लछमन जीवन और प्रगति दोनों से ऊब उठा। वह सोचने लगा—"जो परी उसकी बिजली बनकर उसे एक नए जगत मे बढा लाई थी, वही उसकी घृणा बनकर उसे वहाँ से धकेल देने को तैयार हो गई थी। परी से ही नहीं, बम्बई की एक-एक वस्तु से उसका मन उचट गया। उसकी बीमारी शारीरिक इतनी नहीं थी जितनी मानसिक।

ज्वर के स्वप्नों मे पडा-पडा दिन-रात लछमन कुमारी परी को फिल्म-कम्पनी के मालिकों, निर्देशकों तथा अभिनेताओं के बीच मे हँसती-खेलती पाता। जिस दिन कुमारी परी कुछ देर उसके साथ बैठकर हँस-बोल जाती, लछमन ठीक हो जाता और जब वह रात-रात-भर नाइट शूटिंग मे ही अदृश्य रहती तो उसकी व्यथा बढ जाती।

रोग के सागर मे डूबता-लहराता रहा लछमन बहुत दिन तक। धीरे-धीरे परी पर का सारा विश्वास खो गया उसका। सिनेमा-जीवन की चहल-पहल पुरानी पड जाने से अपना वह आकर्षण स्थिर न रख सकी

थी। उस जीवन की कृत्रिमता से ऊब उठा वह। सभ्यता के सारे उपकरण बन्धन-से चुभने लगे उसके प्राणों में। वह पहाड़ पर की मुक्त प्रकृति के लिए अधीर हो उठा। हिमालय के वे उन्नत और स्वच्छ शिखर उसकी स्मृति में गड़ने लगे। वे स्वच्छ निर्मल-जल के झरने, वह देवदारु-सुवासित पवन उसे संजीवनी दे सकते हैं—ऐसा उसका विश्वास हो गया। सब कुछ वहीं छोड़कर पहाड़ जाने के लिए छटपटा उठा वह।

प्रत्येक सप्ताह एक नवीन उपचारक को लेकर खड़ी हो जाती कुमारी परी, दो-चार मिनट के लिए लछुम की शय्या के सामने। रोग का एक नया नाम और औषधि की एक नवीन संज्ञा सुनाकर चल देता उपचारक। परन्तु इस बार जिस डाक्टर को लेकर परी आई उसने कहा—"मेरी समझ में इन्हें इनकी जन्मभूमि पहाड़ पर भेज दिया जाय तो इनका रोग बिना किसी उपचार के ही चला जायगा। पुष्टिकर भोजन और नियमित रहन-सहन पर ही केवल ध्यान देने की आवश्यकता है।"

रोग-शय्या पर उठ बैठा लछुम और बोला—"आज ही कोई मेरे रोग का निदान कर सका है और आज ही मेरे रोग की ठीक औषधि मुझे बताई गई है। डाक्टर साहब, मैं आपका अत्यन्त ऋणी हूँ इसके लिए।"

"आराम से लेटे रहिए आप दुर्बल हैं बहुत," डाक्टर साहब बोले।

"दुर्बल बना दिया गया हूँ डाक्टर साहब। वास्तव में था नहीं,"—कहकर लछुम फिर लेट गया।

कुमारी परी इस आक्षेप को समझ गई। वह डाक्टर साहब को लेकर जाने लगी।

लछुम बोला—"कुमारी परी, मेरी बात सुन लो। न-जाने फिर तुम कब लौटो।"

डाक्टर साहब को विदा करके परी लौट आई उसके पास। "क्या है लछुम!"

"कुछ नहीं, तुम्हारी बम्बई तुम्हे मुबारिक हो। मुझे जाने दो पहाड को।"

"साथ ही आए है, साथ ही जायँगे । चित्र पूरा हो जाने दो।"

"बिलकुल झूठ बोल रही हो तुम। इस किसान के पुत्र को धोखा न दो रजत-पट की अभिनेत्री ! कोई आकर मुझसे कह गया है, तुम्हारा निर्देशक के साथ विवाह होने जा रहा है। यही पर चित्र समाप्त होगा, क्यो ?"

"किसने कह दिया तुमसे ? सरासर असत्य है यह।"

"रात-दिन तुम्हारे रंग-ढग से देख रहा हू। तुम्हारे मुख पर पढता हूँ मै। मै चला जाऊँगा आज ही। तुम पाँच मिनट के लिए मेरे पास बैठ नहीं सकती हो और चाहती हो मै तुम्हारी छलना की उपासना करूँ। नहीं परी, मेरा चित्र पूरा हो गया। मैं बढ गया जहाँ तक बढना था। इस समुद्र के किनारे पर अब आगे को रेल नही जा सकती कुमारी परी !"

"जहाज तो जाता है।"

"जहाज का भी तो कोई अन्तिम स्टेशन होगा। भर गया मन। नहीं जानता था तुम मेरे साथ प्रेम का केवल एक अभिनय कर रही थी। मै जानता हूँ वह वियोगांत है, इसी से उस चित्र की समाप्ति से पहले यहीं पर काट कर चल देता हूँ।"

"कैसी बाते कर रहे हो तुम ? उचित प्रबन्ध किया जायगा तुम्हारी यात्रा के लिए। दुर्बल हो, कोई सहचर साथ को ढूँढ़ा जायगा।"

"मै अपना साथी आप हूँ। कुछ नही चाहिए मुझे। मैं सबसे पहली गाडी से जाऊँगा। मै इस पर निश्चित-मति हूँ।" कहकर लछम ने टेलीफोन उठाकर स्टेशन से गाडी का समय ज्ञात किया।

"लछम, इस प्रकार एकाएक चल देना ठीक नहीं है। इतने शीघ्र कैसे प्रबन्ध हो सकता है ?"

"क्या प्रबन्ध करना है ? आवश्यकताओ के इस बढ़ाये गए जाल

को यही काटकर चला जाऊँगा । तुम्हे जब यहाँ छोड सकता हूँ फिर और क्या नही छोड सकता यहाँ ? निवास की यह साज-सज्जा, गेरेज की मोटर, स्टूडियो के नए-पुराने मित्र, नगर का विलास—सब यही छोड जाता हूँ । केवल दो घण्टे और शेष हैं ।''

लछ्मन को अपनी हठ पर अविचल पाकर परी ने कहा—''अच्छा मै स्टूडियो हो आती हूँ । आज की शूटिंग स्थगित कराके तुम्हे स्टेशन तक पहुँचा आऊँगी ।''

''कितनी देर में आओगी ?''

''आधे घण्टे से अधिक नही ।''

''आधे घण्टे से अधिक नही रुकूँगा मै ।''

परी शीघ्रता से चली गई । नर्स की सहायता से लछ्मन ने बहुत थोडी आवश्यक चीज़ें साथ के लिए रक्खी । सारे विलास के यत्न-सचित उपकरणो को जहाँ-के-तहाँ फटे हुए जूते की भांति छोड जाना निश्चित किया उसने ।

आधा घंटा बीत गया । लछ्मन यात्रा के लिए तैयार हो गया, पर परी न आई । आधा घंटा और बीत गया, फिर भी न लौटी वह । लछ्मन ने फोन किया, कुमारी परी अनुपस्थित थी स्टूडियो मे ।

लछ्मन रोष मे भर उठा और उस रोष मे ही उसने अकेले ही घर तक पहुँच जाने की शक्ति संग्रहीत कर ली । अपना व्यक्तिगत धन-संग्रह, कुछ आवश्यक कपडे-बिछौना, कुछ खाने-पीने की चीज़ें-औषधियो के अतिरिक्त लछ्मन अपना सब-कुछ वही छोड गया ।

कुमारी परी नही आई और तीस मिनट बीत गए । नर्स नही रोक सकी लछ्मन को । वह एक टैक्सी बुलवाकर चल दिया स्टेशन को और किसी प्रकार कुलियो की सहायता से रेल मे सवार हो गया ।

यात्रा का सारा भार सहन कर लिया उस दुर्बल रोगी ने । रेल की यात्रा समाप्त कर वह पहाड की मोटर मे सवार हुआ । पहाड के दर्शन करते ही उसे यह भास होने लगा, उसकी बीमारी चली जायगी ।

और उसकी बीमारी जाने लगी। मोटर की सडक के एक-एक चढाव-उतार, एक-एक नदी-नाले, एक-एक मोड-पुलिया उसके परिचित थे। उनके साथ उसके जीवन की कई-कई स्मृतियाँ सबद्ध थी। वे सब उसमे मानो सजीव हो बोलने लगे।

ऊँचाई पर चढने लगा लछ्मन। उसे विश्वास होने लगा, सौम्य-शीतल पवन उसके रोग का एक-एक कण उसके शरीर मे से ढूँढ़-ढूँढ कर बाहर निकालने लगी। चारो ओर से उसके परिचित मित्रगण 'लछ्मियाँ! लछ्मियाँ!' की ध्वनि से उसे पुकारने लगे। वह प्यार-भरा शब्द उसकी बीमारी को भुलाता चला। उसकी भूख खुलती-सी प्रतीत हुई।

वह अपने अंतिम स्टेशन तिपनियाँ पर आ पहुंचा। संयोग की बात है, संयोग कल्पना से भी अधिक रहस्यमय है; उसी दिन पंडितजी नगर के लिए तिपनियाँ मे मोटर की प्रतीक्षा कर रहे थे।

लछ्मियाँ की मोटर रुकी। लछ्मियाँ उतरने की चेष्टा करने लगा और पंडितजी उस मोटर मे स्थान ढूँढने आए। एक ने दूसरे को पहचाना।

लछ्मियाँ को पंडितजी ने सहारा देकर मोटर से उतारा। लछ्मियाँ बोला—"पंडितजी, आपके स्कूल के चक्कर काटकर उसे आगे बढना नही समझा मैंने, बात वही ठीक थी। आगे बढ़ते-बढ़ते मै फिर वही पर आ गया हूँ। स्कूल के चारों ओर चक्कर काट रहे है हम। सूर्य के ही चारों ओर नहीं घूम रही है यह धरती हमारी? बढ़ना चक्कर ही मे है, सीधी रेखा पर नहीं। आप क्यो लौट आए?"

पंडितजी कैसे उत्तर देते, परन्तु उनके मुख के भावो ने यथाशक्ति लछ्मियाँ की स्थापना को अनुमोदित किया।

लछ्मियाँ बोला—"क्या मौनव्रत लिया है आपने?"

पंडितजी क्या कहते! मोटर जाने लगी थी अपना सामान रख लछ्मियाँ से विदा ले चल दिए।

लछमियाँ पूर्व परिचित हलवाई की दूकान पर उतरा। हलवाई ने उसकी आव-भगत की। बडी भूख लग गई थी लछमियाँ को। शुद्ध दूध लाकर पिलाया उसने। फिर डाँडी का प्रबन्ध कर उसे उसके गाँव पहुँचा दिया। मार्ग मे भूमिया की धर्मशाला मे उसने देखा उसका रूप-रंग बदल गया था। साधू और कोढी दोनो का पता नही था। उसके वाहको ने कहा—"धर्मशाला मे सहकारी-समिति खुल गई है।"

अचानक ही पुत्र के आ जाने से लछमियाँ के माता-पिता के हर्ष का पारावार न रहा। लछमियाँ ने सुन्दर मकान उनके लिए बनवा दिया था। उसमे पुत्र के प्रथम प्रवेश पर उन्होने शंख-घंट बजाकर मंगल-ध्वनि उपजाई।

उधर नगर मे उतनी ही प्रसन्नता पंडितजी के माता-पिता को मिली, जिन्होंने अपनी अंतिम अवस्था मे अपने खोए हुए पुत्र को फिर प्राप्त कर लिया।

लछमियाँ के रोग की औषधि आरम्भ की गई। जो कुछ रुपया वह साथ लाया था, सब व्यय कर उसने आरोग्य-लाभ किया और उसे सबसे बडा लाभ समझा।

सिनेमा, परी और बम्बई का नाम न लिया फिर उसने। उसके पिता ने उसका विवाह कर दिया। उसने गाँव की सीमा ही अपने सुख की सीमा बना ली। वह कहता—"जो जहाँ पर है ठीक है। आगे बढने के लिए पीछे हटना ही पडता है।"